UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186041

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81 Accession No. GH 5098

Author A27B

Title अंजुमन मारत मुंबई

बहुत बाकी है

This book should be returned on or before the date last marked below.

# बहुत बाकी है

पराग प्रकाशन, दिल्ली-३२

# बहुत बाकी है

भारत भूषण अग्रवाल

मूल्य : पचीस रुपये/ प्रथम संस्करण, १९७८/ प्रकाशक : पराग प्रकाशन, ३/११४, कर्ण गली, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२/ मुद्रक : भारती प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

BAHUT BAKI HAI (*Collection of poems*) : Bharat Bhushan Agarwal

ये दो शब्द लिखते हुए मुझे कष्ट भी हो रहा है और संकोच भी। आज भारतजी जीवित होते तो वे अपनी प्रारंभिक रचनाओं के पुनः प्रकाशन के बारे में सहर्ष स्वयं ही दो शब्द कहते। पर अचानक उनके चले जाने के कारण मैं सदैव अनुभव करती हूं कि भारतजी का सही मूल्यांकन तो आगत युग करेगा ही, पर मेरा यह दायित्व है कि भारतजी की सभी रचनाएं पाठकों के सामने आएं। भारतजी के जीवनकाल में, और उनके देहावसान के बाद तो विभिन्न विश्वविद्यालयों से अनेक शोधकर्ता भारतजी पर शोध-कार्य में संलग्न हो गये हैं। वे बराबर मुझसे भारतजी की प्रारंभिक रचनाओं की मांग करते हैं। एक शोध छात्र तो घर आकर समस्त कविताओं की नकल करके ले गया। बाद में मैंने कुछ छात्रों के लिए टंकित प्रतियों का भी प्रबंध किया। यों भी एक लेखक को पूर्णतः जानने के लिए उसकी प्रारंभिक रचनाओं को पढ़ना अत्यंत आवश्यक होता है। पर भारतजी के प्रारंभिक तीन कविता-संग्रह तो एक तरह से बाज़ार में आये ही नहीं, सो किसी भी लायब्रेरी में उनका होना असंभव-सी बात है। असल बात यह थी कि शुरू में भारतजी ने 'छवि के बंधन', 'जागते रहो' और 'मुक्ति-मार्ग' स्वयं ही किसी प्रेस से पचास-सौ प्रतियां छपवाकर अपने मित्रों में बांट दी थीं। 'ओ अप्रस्तुत मन' यद्यपि लीडर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था, पर उसके वितरण का भी कोई संतोषजनक प्रबन्ध न हो सका था। अतः इन चारों कविता-संग्रह की कविताएं प्रस्तुत संग्रह में संग्रहीत हैं।

'मुक्ति-मार्ग' में ३९ कविताएं थीं जिन पर भारतजी ने कोई शीर्षक नहीं दिया था। बाद में जब उन्होंने 'ओ अप्रस्तुत मन' प्रकाशित किया तो उसमें 'मुक्ति-मार्ग' की २९ कविताएं भी शीर्षक देकर शामिल कर लीं। प्रस्तुत संग्रह में वे कविताएं 'ओ अप्रस्तुत मन' के अंतर्गत ही दी जा रही हैं। अतः 'ओ अप्रस्तुत मन' की प्रारम्भिक २९ कविताएं 'मुक्ति-मार्ग' काव्य-संग्रह में भी थीं।

इस संग्रह का शीर्षक 'ओ अप्रस्तुत मन' की एक कविता की पहली पंक्ति से सूझा। भारतजी सदा कहते भी रहते थे कि अभी मुझे बहुत लिखना बाक़ी है।

इस प्रकार भारतजी के प्रारम्भिक चारों कविता-संग्रह आपके सामने प्रस्तुत हैं। मैं अपने जीजाजी और भारतजी के घनिष्ठ मित्र श्री नेमिचन्द्र जैन की बहुत कृतज्ञ हूं कि उनके यहां से भारतजी के प्रारंभिक दो कविता-संग्रह—'छवि के बंधन' और 'जागते रहो' की एकमात्र दुर्लभ प्रतियां मुझे प्राप्त हो सकीं। यदि उनके यहां ये प्रतियां नहीं मिलतीं तो इनका पुनः प्रकाशन अत्यंत कठिन हो जाता। यही नहीं, उन्होंने इस काव्य-संग्रह के अंतिम प्रूफ़ देखकर तथा संग्रह की एकान्विति के लिए 'छवि के बंधन' तथा 'मुक्ति-मार्ग' की कविताओं के शीर्षक देकर बहुत बड़ा कार्य किया है।

मैं श्री दिविक रमेश की हृदय से आभारी हूं कि उन्होंने इस संग्रह के प्रकाशन में प्रारम्भ से ही रुचि ली और स्वयं ही प्रकाशक से बात करके उन्हें मेरे पास तक लाये।

मैं प्रकाशक श्रीकृष्णजी का भी आभार प्रकट करती हूं कि उनसे जैसे ही इस संग्रह के प्रकाशन की चर्चा की गयी तो वे सहर्ष प्रस्तुत ही नहीं हो गये, बल्कि बोले, 'यदि मैं भारतजी की कुछ सेवा कर सकूं तो अपने को धन्य मानूंगा।' यही नहीं, इस संग्रह के प्रकाशन में उन्होंने जो तत्परता दिखाई है उसके लिए भी मैं उनकी हृदय से आभारी हूं।

**बिन्दु अग्रवाल**

१७, लेडी श्रीराम कॉलेज
लाजपतनगर
नई दिल्ली-११००२४

## छवि के बंधन


| | |
|---|---|
| छवि के छंदों पर | १ |
| तुम कौन हो ? | १ |
| रूप-सागर | २ |
| मुस्कान | ३ |
| तरल मुस्कान | ४ |
| आज हँस दीं | ४ |
| गा उठीं तुम | ५ |
| तुम गा दीं | ६ |
| लजीला प्यार | ६ |
| देखने की चाह | ७ |
| स्नेह-सरिता | ८ |
| पथ पर | ९ |
| उद्‌घाटन | १० |
| दर्शन | १० |
| वह पल भर | ११ |
| पहाड़ी सांझ | १२ |
| विदा-समय | १३ |
| प्लेटफार्म पर विदाई | १४ |
| अधूरी बात | १५ |
| घन बरसो | १५ |
| प्राण उदास | १६ |

दूर देशवासिनी १७
शिशिर की शाम १७
मौन १८
दीपक १९
कुछ बोलो १९
क्या भूल गईं ? २०
संक्षेप २१
वे युग-दिन २२
क्या हुआ छला यदि माया से २३
कहीं नहीं २४
विश्लेषण २४
विदा समय २६
चल पड़ूं २७
चलती बेला २८
स्वीकार २९
सुखद सपने २९

## जागते रहो

जागो कुमार ! ३१
जीवन-धारा ३४
सुखिया उठी ३६
वे हाथ ! ४०
अपने कवि से (१) ४२
अपने कवि से (२) ४४
सीमाएं : आत्म-स्वीकृति ४५
वर्ग-हताश से ४७
जागते रहो ४९
पूंजीवाद की ऐतिहासिकता ५०
नींव बदलो ! ५१
मसूरी के प्रति ५२
अहिंसा ५३
अहिंसक प्रतिकार ५४

# छवि के बन्धन

(१९३९-१९४१)

## छवि के छन्दों पर

छवि के छन्दों पर, मन्द चरण
उतरो उर में कविता-सी तुम
वितरित पद-गति में समारोह
नूपुर में मुखरित अनुप्रास
अंचल की पुनरावृत्ति टेक
मधु चितवन में नव-रस-विलास
सौभाग्य-बिन्दु भाल पर शीर्ष
सीमन्त-रागिनी, स्वर-कुंकुम

## तुम कौन हो ?

री कामिनी ! तुम कौन हो ?
शून्य नभ में कान्तिमय घनदामिनी ! तुम कौन हो ?

आज रीता प्यार मेरा
जल चुका संसार मेरा
उड़ चला है आज पंछी छोड़कर अपना बसेरा
रिक्त उर में सरसती अनुरागिनी ! तुम कौन हो ?

क्या तुम्हें दूं आज अपना ?
सत्य उजड़ा; भंग सपना
लोचनों से रिस रहा उर, अधर पर है एक तपना
यों हृदय सहसा जगातीं हासिनी ! तुम कौन हो ?

तरल-से ये नयन तेरे
गुदगुदाते प्राण मेरे
आज मेरे श्वास किसके रूप के दे रहे फेरे
इस पथिक की डगर में उन्मादिनी ! तुम कौन हो ?

११-११-१९३८

## रूप-सागर

नयनों में तिरता रूप तुम्हारा सागर-सा

नीली साड़ी की लहरों में
छिपता-खुलता अरुणाभ गात
ज्यों सिन्धु-गगन के बीच प्राण !
खिलता हो कोई मधु-प्रभात
मणि-रत्न-दीप्ति,
री सुधा-स्नात !
झिलमिल लहराता चल-अंचल दिगन्त के अम्बर-सा

तेरी सुषमा की ज्वाला से
दीपक-से जलते श्वास-श्वास
मुस्कानों से झरतीं कलियां
फूलों-सा तन, सुख-सी सुवास

रूपसि ! सलाज,
ले हेम-हास
उतरीं जी में, मानो कोई छवि का बादल बरसा

९-५-१९४०

## मुस्कान

मुस्कराना
प्राण ! मेरे क्षितिज पर तुम स्वर्ण की सुषमा सजाना

नयन में अनुराग भरकर
लालिमा से मांग भरकर
तुहिन-कन पर चरन धरकर लहर पर तुम उतर आना

सुभग ! साजे सुरभि के शर
शतदलों के प्राण छूकर
अप्सरा-सी किरन-कर से मुकुल-कलि को गुदगुदाना

सुप्ति-जग के द्वार खोले
जब तुम्हारा वलय बोले
पास आते देख मुझको लाज से तुम छिप न जाना ।

९-९-१९३८

## तरल मुस्कान

तरल वह मुस्कान
खलि उठा मधु-अधर पर यह किस प्रणय का गान ?

परस कर वह छवि दमक-सी
भर गई मुझमें चमक-सी
कण्ठ विह्वल, पुलकते हैं छलछलाते प्राण

स्नेह का दीपक चढ़ाने
चला था तुमको मनाने
किन्तु विस्मय : यों पिघल आया तुम्हारा मान !

प्राण से बहती निरन्तर
करुण मेरा कूल छूकर
स्नेह-सरिता की लहर-सी छलकती छविमान

मुस्करा दीं लाज से झुक,
दो पलों को राह में रुक,
कौन-सा सपना बंटाने कर रही आह्वान ?

२८-११-१९३८

## आज हँस दीं!

आज हँस दीं
स्नेह की यह ग्रन्थि तुमने आज सहसा और कस दी

मधु-अधर की मुस्कराहट
मदिर पलकों की बुलाहट
बिना बोले, बिना आहट, प्राण-वीणा छू सरस दी

बादलों में हेम-रेखा
सा तुम्हारा हास देखा
म्लान उर में मुंदी सुधियां स्वर्ण-शतदल-सी विकस दीं

एक पल बस, किन्तु उसमें युग हुए लय
बिन्दु, पर लघु-बिन्दु में शत सिन्धु-संचय
विरह-मानस में अचानक इन्दु की ज्योत्स्ना बरस दी।

१७-८-१९३९

## गा उठीं तुम

गा उठीं तुम
प्रणय-कम्पन-सी हृदय में आज सहसा छा उठीं तुम

मांगता था यह भिखारी
वह विमल आभा तुम्हारी
छवि कुमारी ! स्वरों की माला मुझे पहना उठीं तुम

तनिक भी बोलीं न डोलीं
बात भी जी की न खोलीं
मैं पसारे रहा झोली नयन को—मुस्का उठीं तुम

विरस, सूखा, प्राण-मधुवन
विफल जीवन, विकल तन-मन
सुमुखि ! सरस फुहार-सी, रसधार-सी लहरा उठीं तुम

१७-८-१९३९

## तुम गा दीं

बेसुध, पथ पर मैं बढ़ा जा रहा भरकर झोली में विराग
किस दिशि से आकर तुम रानी ! गा उठीं अचानक सजल राग ?
तुम गा दीं, गिनने लगे नयन उन पूर्वस्मृतियों की घड़ियां
तुम गा दीं, खनक उठीं सहसा इस चिर बन्दी की हथकड़ियां

तुम गा दीं, बुझते प्राणों में जग उठी अचानक दीपाली
तुम गा दीं, सूखे प्राणों में छा गई अचानक हरियाली
भर गई प्यार का ज्वार हृदय में तेरी वह मधु-स्वर-धारा
तुम गा दीं, चमक उठा सहसा पलकों में नभ का ध्रुव-तारा

स्नेहार्द्र हो गया मलयानिल फूटा जब तेरा कण्ठ-स्रोत
उस स्वर गंगा में डूब गया प्राणों का स्तर-स्तर ओत-प्रोत
डूबी पृथ्वी, डूबा दिगन्त, डूबा अम्बर का ओर-छोर
पल में संसृति के सब बन्धन हो गये राग में सराबोर।

बह आया ज्योत्स्ना से रंजित सहसा सुरबाला का सुहाग
स्वर तारे बनकर झलक उठे, बन गया गगन भी एक राग

११-४-१९३९

## लजीला प्यार

प्राण-चितेरे ने पीड़ा के रंग से चित्र बनाया तेरा
उसको तुझे दिखाने को आतुर है यह पागल मन मेरा
पर जिसने वह ढंक रक्खा है वह परदा कैसे उठ पाये ?
उर को अपने होंठों में कैसे भर लूं—यह कौन बताये ?

कौन बताये कैसे बांधूं रेखाओं से अपना जीवन ?
कैसे पलकों से बिखेर दूं युग-युग का अपना संचित धन ?

कैसे मीठे-से विषाद ने मेरा छोटा-सा जी घेरा !
किस डाली पर चाह रहा है प्राण-परेवा आज बसेरा ?
आज लालसा उर में ही जल भस्म कर रही है प्राणों को
जिसकी ज्वाला नभ से टकरा राख बनाती अरमानों को
किन्तु लौह की दीवारों में बन्दी है यह दुनिया मेरी
इसको कैसे देख सकेगी रानी ! भोली चितवन तेरी

मेरा प्यार लजीला, रानी ! इसको तुम कैसे जानोगी ?
अविचल पुतली के नीचे कैसी छलकन क्या पहचानोगी ?

१९-१२-१९३८

## देखने की चाह

आज तुमको देखने की चाह जी में जग उठी है
आ गई सुधि, विकल मन में, प्राण ! पीड़ा पग उठी है
भर गये लोचन, न जाने बोलता-सा कौन मुझमें
आज मेरी भावनाएं, उड़ घुली हैं एक तुझमें

कब लिखोगी आंसुओं में रश्मि का इतिहास रानी ?
पा सकूंगा कब तुम्हें मैं मुस्कराते पास, रानी ?
कब तुम्हारी स्नेह-धारा छू सकेगी कूल मेरा ?
कब मिलेगा प्राण ! मुझको दरस तेरा, परस तेरा ?

कौन पल होगा मधुर जब दीख जाओगी क्षितिज पर ?
और छूने छवि तुम्हारी मैं बढ़ूंगा मन्द हँसकर

जब तुम्हारा रूप भरकर मूंद लूंगा पलक अपने
जब तुम्हारे स्पर्श-भर से पल बनेंगे स्वर्ण-सपने

कांति से रंग जाएंगे कब आंसुओं के हार मेरे?
कब खिलेंगे मिलन बनकर प्राण! ये मनुहार मेरे?

२८-१२-१९३९

## स्नेह-सरिता

स्नेह-सरिता में नहा लें
कूल पर हम बैठ दो पल, सजनि! सुख के गीत गा लें

साधना का सार गलकर
सरल उर का प्यार गलकर
पिघल आते स्रोत में हम आज अपना दुख बहा लें

बीचियां आह्वान करतीं
प्राण में मधु-गान भरतीं
इस सलिल की रुनन में हम आज अपना स्वर मिला लें

विश्व-बन्धन के नगर में
हम न मिल सकते डगर में
पर, उतरकर इस लहर में सजनि! सब बन्धन मिटा लें

अब भला उस पार क्या है?
नाव क्या, पतवार क्या है?
डूबकर हम बाहु बांधे दूसरी नगरी बसा लें

एक हों हम युगल प्राणी
प्राण गल बन जाएं पानी
विरह में मिटकर मिलन की अमरता का राज पा लें

२२-११-१९३८

## पथ पर

मैं नहीं उठाता शीश, भले ही बीस बार हो आये मन
तुम जाओ छलने ! नत-शिर मैं कर रहा तुम्हारा अभिनन्दन

तुम आती दीखीं, झुकी पलक
पर फूल उठी मेरी छाती
मैं चाह रहा हूं तुमको देखूं एक झलक
पर दृष्टि नहीं उठने पाती
गड़-सी जाती है शरमाकर।
यह किन्तु पार्श्व में, रे ! इतने समीप तेरी आहट पाकर
मैं नहीं जानने भी पाता
कब मैं चित्रित-सा रह जाता
औ' निर्झर-सी, कानों में भर जाती धड़कन

७-३-१९४१

## उद्घाटन

हो गया दर्द बेपर्द आज मीनाक्षी !
दे दी तेरे नयनों ने जग को साक्षी
अपने बन्धन की; पथ में पलकें झर कर
लो, लुटा गईं अपनी उन्माद-कहानी
लिखकर काजल से; उत्सुक अधर सिहर कर
कह गये हमारे यौवन की नादानी !
ज्यों खिसका अंचल वक्षस्थल से बाले !
गिर पड़ा साथ ही मधु-रहस्य त्यों जग की
निर्मम आंखों में जिसको हम थे पाले
कर-कर अनेक चेष्टा-प्रयत्न। री पग की
अटपट आहट में आज बजी शहनाई
निज प्राण-ग्रन्थि की; पड़ी आज दिखलाई
सारे जग को तेरे कपोल की वह शरमीली लाली
सचमुच सरले ! सचमुच ही तूने बड़ी भूल कर डाली !

१६-६-१६४१

## दर्शन

झीने बादल घिर आये थे, तिर आया था सरल अंधेरा
मन्द-मन्द दो-चार सितारे नभ में कुछ-कुछ मुस्काते थे,
बोझिल पंखों को फैलाये झुका-झका पंछी मन मेरा—
मलयानिल की लय में पागल प्राण धड़कते-से गाते थे।
उधर पार्श्व के वृक्ष किसी के मृदुल स्पर्श से लहराते थे
धुंधला चांद न जाने क्यों मुंह दिखलाने में सकुचाता था

जी में किसी पुलक से प्रेरित मधु-अनुराग भरा आता था
किसी स्निग्ध छाया को पाने को ये लोचन अकुलाते थे।
हार न जाने क्यों हँसती थी, मीठी-सी थकान लगती थी,
रजनी के श्यामल अंचल में मेरे भाव छिपे जाते थे;
कहीं निराश न होना पड़ जाये, इस भय से मेरे ये पद
तिल-तिल बढ़ते थे, बढ़ने में पल-पल सिहर डगमगाते थे।
प्राण ! तभी हलकी आभा ले, आयी भरकर नयनों में मद
उस अपरूप कान्ति से मेरे मन में विमल विभा जगती थी।

२७-११-९३९

## वह पल भर

सुर-गंगा-सा शोभन दुकूल
अलकों में सज्जित वन्य फूल
पलकों में सपने रहे झूल
सुषमा औ' यौवन का कदम्ब

तेरे तन की मांसल सुगन्ध
श्लथ अतिशय, मधु-मद-मत्त, अन्ध,
खुल पड़े अचानक ज्ञान बन्ध
बह चला धार में निरवलम्ब

शीराजी-सा तेरा गाना
प्राणों का होंठों पर आना
श्वासों का सौरभ बन जाना
रसधार-मग्न, आकण्ठ-पान

फिर वह पल भर का लघु चुम्बन
जब मूंद लिये तुमने लोचन
वह भुज-बन्धन, बन्दी तन-मन
निस्तब्ध-निशा, नीहार-प्राण !

७-७-१९३९

## पहाड़ी सांझ

वह पहाड़ी सांझ, पाटल-फूल-सी जल पर झुकी थी,
शैल-शिखरों से घिरे, एकान्त में, निर्झर-किनारे
हम खड़े थे; याद है ? जब थे तुम्हारे पांव हारे,
एक चिकनी-सी शिला के निकट तुम थककर रुकी थीं,
फिर गई थीं बैठ । पर्वत-पार सूरज डूबता था;
मुग्ध मैं उन सिन्धु-से दृग में अचंचल देखता था
पुतलियों में मन्द मुंदती प्रभा का प्रतिबिम्ब सुन्दर ;
मार्ग-श्रम से अरुण गालों पर बिखरती ज्योति सुखकर।
चाहती थी धार बांकी मृदु पदों से तनिक खेले;
हेरता पाकर मुझे तुम मुस्करा दीं, चल पड़ीं फिर।
उतर आयी प्रान्त में विश्रान्त रजनी, घाटियां घिर
गईं तम से, उस विषम संकरी डगर में हम अकेले
दो अभिन्न, अलक्ष्य पक्षी-से, संटे-से, मिला कांधे,
कैम्प को लौटे, उतरते और चढ़ते, बाहु बांधे ।

९-६-१९४०

# विदा-समय

दो पलों के बाद
बस यहां रह जायगा यह शून्य और विषाद

आज कुसुमों के अधर सहसा हुए हैं म्लान
भूल-सा बैठा विहग अपना सुनहरा गान
तुहिन-दल से शतदलों पर लिख गया अवसाद

सिहरती हैं आज डाली स्तब्ध-सी चुपचाप
सांझ के बिखरे तिमिर में कौन जाता कांप ?
लो, विदा के ध्यान से ही छा गया उन्माद ।

कौन हो तुम ?—हो न पायी थी अभी पहचान
कौन हूं मैं—तुम न पायी थीं अभी यह जान
लहर आयी, ले चली, अब व्यर्थ सब फरियाद

बह रहा जीवन अरे ! होंगे सभी तो लीन
व्यर्थ क्यों पलकें भिगोता ओ सरल पथहीन ?
क्षितिज तक आंखें बिछा—सुन उर्मियों का नाद

तन गया लो पाल—सागर में मचलता ज्वार
छूटता भू का किनारा, छूटता संसार—
भूलकर भी क्या वहां हमको करोगी याद ?

९-१-१९४०

# प्लेटफार्म पर विदाई

होने सवार,
ज्यों बढ़े चरण,
चमका एड़ी का गौर वर्ण

कर नमस्कार
कुछ नमित वदन,
जब मुड़ीं, हो गये रक्त कर्ण।

पल को खिड़की पर
बांह टेक,
देखा घिर कर ;

उफ ! उभर-उभर
आये अनेक
छवि के अक्षर !

चल दी गाड़ी,
घर-घर, घर-घर,
खिंचता ही गया सनेह-तार

धानी साड़ी
फर-फर, फर-फर,
उड़-उड़कर दीखी बार-बार।

पल भी न लगा,
सुनसान, शान्त ;
मैं खड़ा देखता निर्निमेष।

लो फिर सुलगा
यह प्राण-प्रान्त ;
बस, प्लेटफार्म की टिकिट शेष !

१९-६-१९४१

## अधूरी बात

रह गई अधूरी बात
उमड़-उमड़ आती है आंखों में बनकर बरसात

नियति का यह कैसा संकेत
अचानक ही आ गया अचेत
हो न सका था अभी स्वप्न भी पूर्ण, कि बीती रात

विवश नीरवता की चट्टान
कुलबुलाते पानी-से प्राण
उफन रहा है मेरे अन्तर में अवरुद्ध प्रपात

यही है बस अब मेरी साध
कि जी में सागर भरा अगाध
तुहिन-बिन्दु बनकर छू लूं मैं तेरा कनक-प्रभात

१६-८-१९३९

## घन बरसो

रे घन ! बरसो
रे मन ! तरसो

आ गई बूंद
आ गई याद,
छायी श्यामा
छाया प्रमाद

डूबा पग-पथ,
डूबा-दृग-पथ

फूटा अम्बर
फूटा अन्तर

उभरा जीवन
उभरा पानी
बिखरा पावस
बिखरा मानी

रे मन ! बरसो
रे तन ! तरसो

१५-१०-१९४१

## प्राण उदास

आज प्राण उदास
घिर रहा है क्षितिज का वह तिमिर मेरे पास

बुझ गई जलती चिता की आग
एक मौन विषाद और विराग
हो उठे हैं आज मुझको भार मेरे श्वास

बिखर आयी बादलों में याद
विधुर जी में छा गया उन्माद
आर्द्र पलकों-सा हुआ है सजल आज प्रवास

कौन कहता है कि तुम हो दूर ?
प्राण तेरे रूप से भरपूर
आज जीवन में तुम्हारा पा रहा आभास

१६-८-१९३९

## दूर देश वासिनी

दूर देश वासिनी !
अरे ! वहां भी होती है क्या यह तारों की रात !
गीली - गीली बातें बिखराती बहती है वात ?
सपनों को भर-भरकर लाती
रश्मि - रजत हासिनी

चांद अरे ! मुड़कर कह तो दो उससे बस यह एक
मचल रहा इस ओर दीन यह लेकर तेरी टेक
किस बेसुध पल में आओगी
रम्य - रूप - राशिनी ?

आयी थीं मुझमें जाने कब आशा-सी चुपचाप
चौंका कर पर गईं स्वप्न-सी बेसुध, बेआलाप
कौन कहे, मैं प्रवासी
या कि तुम प्रवासिनी !

७-३-१९३८

## शिशिर की शाम

तिमिर घिरते अजिर में शीतल शिशिर की शाम,
मदिर पलकों की सियाही-सी, बिखेरे अंग
सो रही थी; खो रही थी पुतलियों की चाह
चन्द्र-रेखा-सा अचिर आधार। घर की राह
गयी गौरैया, झुकाए पंख, अपने नीड़—
लघु-जगत का उष्ण, अविरल, शान्तिपूर्ण विराम !

इधर जीवन के मरुस्थल में हृदय की मींड़;
क्षितिज तक एकान्त-नीरव, त्यक्त मैं निस्संग।

रात पाषाणी हिमानी बन, ढंके सब गात
उतर आयी; उभर आयी विगत दिन की बात,
उभर आये सुप्त जी में प्रिया के पदचिह्न

तभी मेरे द्वार पर आहट हुई कुछ मन्द
'आ गयी', पट खोलने मैं उठ दिया सानन्द
किन्तु वह तो थी निगोड़ी वायु, कितनी भिन्न !

१-१२-१९४१

## मौन

आज मेरी कामनाएं मौन

एक छोटा ताल
उस अपरिचित तरणि का वह चपल-चंचल-पाल
विरल छाया डाल,
डांड़ से छूकर सरल-तल-नीर
रे! गयी इसका कलेजा चीर;

एक पल—यह हो उठा उद्भ्रान्त
उबल अन्तर से प्रबल आवर्त के शत वृत्त
उस निलय-संकेत में कर उठे कातर नृत्य;

किन्तु फिर सब शान्त !
लहरियों की वे व्यथाएं मौन।

२३-१०-१९४१

## दीपक

सरस छवि के स्नेह से, उर की अलौकिक कान्ति से
कभी जो दीपक जलाया
तुम उसी को अब बुझाया
चाहती हो, फिर बताओ दोष मैं क्यों दूं ? किसे ?

किन्तु इतना तो करो
स्नेह देना बस करो
स्वयं बुझने दो निठुर ! पर फूंक मत मारो इसे

तिमिर में जीवित रहे
इससे यही अच्छा—जले
हैं श्वास जब तक, और फिर चुपचाप मिट ले शान्ति से

१०-१-१९४१

## कुछ बोलो

दो दिन खिल, बिखरी, झरीं,
उन्हीं
पाटल की पंखुरियों-सी
तेरी प्रीति-भरी शपथें सारी
मिट गईं, क्यों न ?

क्या पुष्पहार-से
वे
सनेह के बन्धन भी

खुल गये टूट ?
सीमन्तिनि, जीवन की सीमा !
कुछ तो बोलो, क्यों बनी मौन ?

१०-१-१९४१

## क्या भूल गयीं ?

क्या भूल गयीं ?
वह बुझी सांझ जब हम तुम पथ में मिले मौन ?
जब हमने संग-संग सोचा था अपने मन में : 'यह अरे ! कौन ?'
जब एक साथ दोनों के जी में चाह उठी—हम दूर हों न।

जब जग की आंखें ढंकने उतरी वसुधा पर मधु भरी रात
जब अंधकार में स्नेह-दीप प्रज्ज्वलित हो उठा अकस्मात
फिर प्रणय प्रात, जब हँस-हँस तुमने की थीं मुझसे सरस बात

शशिमुखी ! तुम्हारी ज्योत्स्ना से उमड़ा था जो उन्माद-ज्वार
जब तुमने चुप-चुप खोला था राही को अपना हृदय-द्वार
पलकें पसार, जब तुमने मेरे प्राणों पर लिख दिया प्यार

जब एक शब्द में, एक दृष्टि में भर जाते थे स्वप्न-लोक
जब रंग उठती थी कर्ण-कोर, नत-पलक, मुझे पथ में विलोक
जब त्याग लोक-लज्जा, परदेसी को तुमने था लिया रोक

अपने मन से ही लुका-छिपा हमने बदले थे अपने मन
जब मेरी चंचल गति में तुमने बांधे थे रति के बन्धन
फिर विजन-मिलन, मधु-अधरों पर नीरव-सुधि-शपथों का अंकन

क्या भूल गयीं सुखमय अतीत की प्रीति - भरी बातें अनगिन ?
फिर बोलो, क्यों है आज तुम्हारी दृष्टि कठिन, सुख ज्योति मलिन ?
री प्रणयिनि ! अपने युग-जीवन के वे युग दिन
क्या भूल गयीं ?

६-६-१६४०

## संक्षेप

मुकुल मन के खुल रहे थे बन्ध
पुतलियों में भरे सौ-सौ छन्द
जब प्रखर थे कामना के बान
एक दिन पाया तभी अनजान
मैं खड़ा था छवि-जलधि के तीर
टूटते थे प्राण के प्राचीर

एक पल देखा—जगा दी ज्योति
एक पल देखा—लगा दी आग
एक चितवन बन गयी आह्वान
एक चितवन बन गयी अनुराग
रंग गई जिनसे रजतमय रेत
चरण में लिपटा मरण-संकेत

क्या कहूं—बलिदान या अपनाव ?
नूपुरों ने गिने मेरे भाव
एक स्मिति का वह तनिक आभास
बन गया मेरे प्रणय की श्वास
वह दलित शिशु ललित जीवन-दान
पा, कुसुम-सा खिल उठा असमान

किन्तु यौवन था भ्रमण में लीन
हो गया शिशु क्षीण, लालन-हीन
भार से चांचल्य ने पा क्रोध
क्रूर कर द्वारा किया हृद्रोध
ढह गया वह कल्पना-प्रासाद
बिन्दु बनकर रह गया उन्माद

२६-१०-१९४१

## वे युग-दिन

मैंने जो तुमको सौंपे थे
मेरे अतीत के वे युग-दिन
निष्ठुर !
तुमने यों उड़ा दिए
ज्यों नूरजहां ने वे सलीम के पक्षी ।
पगली !
अपनी नादानी में
खेली तुमने जीवन से आंख-मिचौनी ।

अब कर मलने से भी फल क्या ?
जब बीत गये वे सुख के दिन ।
कब लौटा है उड़कर अतीत
कब फिरे हाथ के तोते ?
अब तो बस उनकी सुधि में
मेरा भविष्य भी बीत जायेगा रोते

फिर भी कभी-कभी विह्वल जी में उठता है यह विचार
काश, न हम-तुम कभी मिले होते !

२८-१-१९४१

क्या हुआ छला यदि माया से
अब भी अबला तुम काया से
डूबी वसंत की लहरों में जब तुमको देखा
खिंची प्राण पर रेखा
हो गए लुब्ध लोचन प्यासे
मत समझो, तुमसे हार गया,
हारा मैं अपनी तृष्णा से

पर शक्ति अभी पग में मेरे
तुम कब तक मुझको बांध सकोगी
कोमल डोरों में घेरे ?

तुम कब तक मुझे भुलाओगी
झूठे सपनों की ममता से ?
हैं व्यर्थ सभी बन्धन तेरे
मैं फिर चल दूंगा, री पगली !
पल जी बहला इस छाया से।

१०-१-१९४१

## कहां नहीं

कहां नहीं पथ में आकर्षण, कहां नहीं हैं छवि के बन्धन ?
यह तो एक सत्य साधारण जग-जीवन का, ओ मेरे मन !
फिर तू क्यों भूला है पगले ! क्या यह तेरे प्राण न जानें !
किस नदिया में बाढ़ न आयी ? किसके तन में भरा न यौवन ?

क्या मैं इसीलिए दुख पाऊं क्योंकि किसी को रूप मिला है ?
क्योंकि किसी के अधर प्रवालों पर वसन्त का हास खिला है ?
पथ की सभी दिशाओं में तो बिछी हुई हैं ये मुस्कानें
पागल, इन तिनकों से ही क्यों तेरा सागर आज हिला है ?

बन्धन नहीं, अरे वे तो हैं क्षणिक ओस की नन्ही बूंदें
पल में हों अदृश्य जो इनको कहीं सत्य की किरणें छू दें
ये क्या भला बांधतीं तुझको, बांधा है तुझको तृष्णा ने
तेरे चाहे बिना शक्ति थी किसमें, तेरी आंखें मूंदे ?

आज छोड़ दे मोह, विदेशी ! यहां न क्षण को क्षण पहचाने
बहकर लौटेगा न, काल तो सतत प्रवहमाना सलिला है।

२२-१-१९४१

## विश्लेषण

जीवन का कोमल प्रथम चरण हो गया शेष।
तुम लांघ न पायीं युग-युग की सौमित्र-रेख,
तुम बांध न पायीं शब्दों में वह समावेश,
तुम...पर अब तो उन बातों का है व्यर्थ लेख

मिट गया तरंगाकुल प्रमाद। जब-तब मन में,
आता है उभर-उभर वह स्वर किस पुलकन में,
तुमने न वाक्य वह पूर्ण किया, मैं संकोची
करता ही रहा द्विविधा; तुमने मुझको समझा
निष्क्रिय, अबोध। सच बतलाओ—क्या थी सोची
यह बात कभी भी : मेरे जी में था झंझा ?

पर नहीं—तुम्हारा इसमें है बिलकुल न दोष।
मैं ही तो बन न सका यथार्थ में राजकुंवर।
तुम स्वयंवरा बनकर आयीं लज्जित-प्रदोष,
सज्जित संध्या-सी, दिशा-दिशा में फैलाकर
अपनी अलकों का मोह-जाल। अम्बुज-प्रवाल
से राते अधरों पर कोरा विस्मय-विकास,
मदमाते नयनों में धुंधला गोधूलि-लास,
ज्योत्स्ना-विमुग्ध नक्षत्र देखकर विनत भाल।
मैं बढ़ा, किन्तु संकोचवती ! तुम छुई-मुई-
सी सिमट गयीं, जब अपनी आंखें चार हुईं।

मैं आज मानता हूं मुझसे हो गई भूल ;
मैं उस लज्जा को समझ न पाया ठीक-ठीक।
मैं वाट देखता आवाहन की रहा कूल
पर ही, आगे डग दे न सका—स्मिति के प्रतीक
की जो न दिखाई दिया। जान पाया मैं कब
तेरे अन्तरतम का रहस्य ? अपने ही मन
की उथल-पुथल में व्यस्त रहा। लगता था—अब
कुछ कहने ही वाले हैं तेरे नमित नयन
पल फैलाकर। कुछ क्षण बीते। लेकिन विस्मय !
तुम मुड़ीं और हो गयीं तिमिर में लय, असमय।

मैं क्या जानूं—तुम अबला थीं या थीं कठोर,
मैं झांक न पाया वापी की गहराई तक।

पर, अंचल की तो कौन कहे दृष्टि का छोर
भी आ न सका मेरे कर में। बस मैं अपलक
देखता रहा तुम को शशि-सी। तुम भी निर्मम-
सी मौन, दूर ही रहीं। और अन्तर का तम
भीगा हिम से। हम दोनों ने ही प्रकृत काम
को गोपन रक्खा देकर झूठे बड़े नाम।
अन्त तक न हमने किया कभी जी का विनिमय
भय-लज्जा की बलि-वेदी पर चढ़ गया प्रणय।

९-५-१९४१

## विदा समय

अब यदि दो शब्द कहूं भी तो—
क्या बात प्रकट हो पायेगी ?
वह तो मेरे संग जायेगी।

इसलिए मौन !
तुम कौन—और मैं कौन !
मिलेंगे, किसको था यह ज्ञान ?
बिछुड़ने पर फिर क्यों यह हिचक, अटकते प्राण बंधे-से।

लो यह फूलों का हार, हार के फूल,
गुंथी है इनमें सुधि उस क्षण की
जब सम्मोहन-बाण
सधे-से
अमृत-धार निसृत कर पाये
फोड़ भूमि मरुमन की।

अरी बावली ! विदा समय में
उठते कितने भाव हृदय में
जी क्या गाए ?
बस, मेरे पीछे तुमने इन फूलों की कुछ भी
सुधि ली तो,
मेरी आत्मा सुख पायेगी ।

७-३-१९४१

## चल पड़ूं जब

चल पड़ूं मैं जब विदा ले इस जगत से,
तुम मुझे देना भुला ।

फिर न करना कभी मेरी याद;
सह न पायेगा, अरे ! यह स्नेह मेरा
उस तुम्हारे सरल मुख पर बिखरता अवसाद

दुखाना मिट्टी न मेरी, दीन हो अपने
विचारों को रुला !

भूल जाना तुम कि मैं था कौन ।
देखना विधि की निठुरता पर
तुम्हारे प्राण कातर हों न !

सो रहूं मैं जब चिता पर, प्यार अपना
साथ ही देना सुला ।

७-१-१९४१

# चलती बेला

मत हो उदास
ये प्रेम-पाश
झर जाते अपने-आप एक दिन तो, पगली !

मत समझ प्यार
है दुर्निवार
आह्वान कर्म का है उससे भी अधिक बली

जी की ममता
री स्नेहलता !
तारों-सी छायी है विषादमय अन्तर में

मुझको समुद्र
में किन्तु क्षुद्र
बांहों से लड़ना होगा ही, मैं उड़ न सकूंगा अम्बर में

अतएव बुझे
यह दीप, मुझे
जाना ही होगा अन्धकार का भय तज कर

यदि हो न सहन
लो मूंद नयन
लेकिन न बिखेरो ये आंसू मेरे पथ पर !

२८-८-१९४१

## स्वीकार

मुझको न लाज है आज, अधिक मैं भुला न पाऊंगा मन को
मैं मुक्त कण्ठ से करता हूं स्वीकार हार को, बन्धन को,
तेरी छवि के सम्मोहन को । ओ मेरे जीवन की सीमे !
मैं नहीं जान पाता हूं कब तुम दबे पांव, चुप-चुप धीमे,
आ जाती हो मेरे जी में, भूली कविता-सी, प्रतिध्वनि-सी ।
सब विफल हुए मेरे प्रयास, मैं भुला न पाया तुम्हें किसी
भी भांति । लौटता हूं मैं जब विश्रान्त-क्लान्त कर्म-स्थल से
संझा की मौन उदासी में, नारी ! तब तुम उग आती हो
अन्तरतम में चन्दा-सी, तारों - से जग उठते हैं लोचन,
सिन्दूर-बिन्दु, सीमान्त-कुसुम । कब अरे ! पुरुष जीता तुमसे ?
मैं सच कहता हूं, प्रियदर्शिनि, तुम मुझको दुगुनी भाती हो
होकर अदृश्य । इस दूरी में लगती हो जी को अधिक निकट ।
जब-जब पलकों के साथ सामने खुलता रंगमंच का पट
नेपथ्य-गान-सा ध्यान तुम्हारा भर देता है मेरा मन ।

७-१२-१९४१

## सुखद सपने

लौटकर आये सुखद सपने
इस बटोही की डगर की क्लान्ति बनकर उग गयी सुषमा
रात के सुनसान तम में, रिक्त में, जल उठी रूप-शमा
जग विसुध जब, सजल अन्तरवासिनी ने
शीश पर फेरे सुकोमल हाथ अपने

पांव जिसके देहली की परिधि में थे उलझ, हारे
हाथ जिसके वलय-बन्धन से न छुट पाये बिचारे
आ न पायी, भेज भी पायी न पाती; स्वप्न में वह
कह गयी : 'मैं साथ हूं तेरे अरे अपने !'

फिर भला क्या हिचक-शंका, फिर रुकूं मैं क्यों, बताओ
आज मंजिल ने स्वयं मुझको किया आह्वान—'आओ'
क्षितिज ने आकर सहारा दिया, मेरे पैर
जब पथ में लगे कंपने !

८-१०-१९४१

# जागते रहो

(१९३९-१९४२)

## जागो कुमार ![1]

बीस बरसातें—
कितने प्रकाश के दिन बीते, बीतीं कितनी तम की रातें !

उस बादल-बेला में
बिलकुल अनजाने ही
कहीं एक लघु-बीज पड़ा था
अमृत-सी वे बूंदें उसको
ज्योति-परस के जादू से कर गयीं तरुण-तरु ।
आज फूट निकला है उसके जी का यौवन,
भर गया नवल कलियों से तन,
नव-जीवन !
पत्र-पत्र में आज संचरित
उष्ण-रुधिर, नव-धार !
फैल चली हैं जड़ें भूमि में,
आज वायु का वेग भी उसे
झुका न पाता
हिला-हिलाकर हार ।
आज स्वर्ग की स्वर्ण-रश्मियां
अमर-लोक का अतुलित वैभव
ले आती हैं—
और उसे

---

१. अपने जन्मदिन पर

छू शिर प्रशस्त,
अम्लान-हस्त,
जीवन का वर दे जाती हैं !

वह खड़ा किन्तु आंखें पसार।
वह कौन कि जिसकी बाट जोहता ?
—किसे क्या पता—
झांक रहा है बार-बार
सम्मुख दिगन्त के पार
नेति-नीलम-प्रसार !
सरस सुमनों की चल-मुसकान,
मधुप-पगलों के गान,
पदों में लिपटी ललित लताओं को अजान
बेसुध बिसार
इसके मधु-कातर प्राण, अरे ! करते किसका आह्वान ?
किस भोली विहग-कुमारी के हित
निज अमूल्य यौवन के वैभव को कर संचित
ध्यान-लग्न यह तरुण-तपस्वी
वय में लिये विराग ?
हरे-हरे मृदु-सघन पल्लवों से आच्छादित
इसकी डालें
अपनी नन्ही टहनियों की बांह उठाकर,
किसी प्रबल अभिलाषा में भर,
किसलिए आज कर उठती हैं बरबस पुकार ?

हाय ! भार बन गया इसे यौवन-उभार !
अन्तर्पीड़ा में होकर लय,
इसके मधु-जीवन का सारा सुरभित संचय
बना असीम व्यथामय !
ओ मधुबन के भूले तरु !
तू भूल न कर, ओ पागल !

यह वसन्त-बेला
रे ! वन-उपवन में अलि-दल के गुंजन का मेला
क्या अर्थ—
कि खोता है यों अपना जीवन-परिमल
एक अपरिचित की आशा में व्यर्थ ?
यह भावुकता नहीं, अरे, यह तो प्रमाद,
तू छोड़ व्यर्थ अवसाद
ओ तरु-कुमार ! तू जाग—
अपने इस अपार वैभव का मधु-पराग
देकर चिर-उत्सुक वसुधा का
भर दे सुहाग, कर दे सिंगार !
जिसने तुझको सजल, सरस कर,
अमृत-रस भर
किया समर्थ
आज उसी के कण-कण को अपनी सुवास से,
रजत-आस से
सुरभित, पुलकित, हर्षोल्लित कर शीतल ।
लो, घिर आये हैं नभ में ये रस के बादल !
ले इनका आशीष
झुकाकर शीश,
और चरणों में इनके
दे अपने नव-फूलों का मधुपर्क-अर्घ्य ।
ओ रे अजान !
तू फूल,
और बिखरा दिशि-दिशि में सरस गन्ध
जिसको पीकर यह प्यासा जग कर उठे गान
मधु-प्राण !

२०-८-१९३९ बीसवीं वर्षगांठ

# जीवन-धारा

सघन बर्फ़ की कड़ी पर्त-सी
एक-एक कर अमित रूढ़ियां
सदियों से जमती जाती हैं
तह पर तह
मानव-जीवन पर।
तह पर तह—
ये आज ठोस दीवार बनीं
हैं रोक रही जीवन की गति
मन की उन्नति।
अवरुद्ध आज जीवन-धारा—
युग-युग से प्रचलित भय-निर्मित
इन अमित रूढ़ियों की कारा ने
बांध लिया मानव का मन,
जग का जीवन !
आगे बढ़ने में विफल, व्यर्थ
असमर्थ
आज जग-जीवन की सरिता का जल
होकर बेकल
है फोड़-फोड़ निकला बाहर
दोनों कूलों के इधर-उधर
रसमय वसुधा के अंचल को
करके दलदल।

अवरुद्ध आज जीवन-प्रवाह।
जड़ता की जंजीरों में जकड़ा भीत हृदय
हिम-शीत मृत्यु के क्षुण्ण-स्पर्श से
आज बना निर्जीव,
न उसमें शक्ति कि कर भी ले वह कुछ चीत्कार-आह !

सब ओर आज गतिहीन शान्ति, निष्प्राण मौन,
अस्वस्थ धरा, अवरुद्ध वायु, निस्तेज गगन
गंदला, अशुद्ध जग का जीवन।
जग की रग-रग में जमा हुआ हेमन्त-शीत,
पतझार-पीत !

पर भय क्या है ! —अब देर नहीं
हम अग्नि-शिखा प्रज्वलित करेंगे
जिसके सम्मुख एक बार ही
गल-गल पिघल जायेंगे सारे हिम के प्रस्तर !
एक बार फिर
जीवन पायेगा अपनी उन्मुक्त धार, निर्बन्ध प्रगति
टूटेंगे गति के पथ में आये रूढ़िग्रस्त मानव के मन के भाव-बन्ध,
फिर से समस्त जग में छायेगा नव-प्रकाश,
नव-नवोल्लास, नव-गीत-छन्द !
फिर एक बार,
हिम की कारा को तोड़-फोड़
अक्षय, प्रशस्त, जीवन-धारा
वसुधा की चौड़ी छाती पर
सत्वर,
अमन्द,
बह पायेगी मग सरसाती
कल-कल गाती।

फिर भय क्या है ! —अब देर नहीं
हम लाते हैं वह वह्नि-तेज
जिसके स्फुलिंग की ज्योति-बिन्दु से
मिट जायेगा हेमन्त-शीत,
मिट जायेगी इस कड़वी जड़ता की सड़ांध।
हम देख रहे टकटकी बांध—

उग रहा पूर्व में नवालोक, अभिनव वसन्त ।
अब देर नहीं—
विकसित होकर जग का शतदल
खोलेगा अपनी मुंदी आंख ।
जागृति की किरणों से ज्योतित
होगा अशेष जग का प्रांगण;
सौरभ से पूरित दिग्-दिगन्त ।

६-११-१९४०

## सुखिया उठी

बस्ती को वरदान की तरह
लगा हुआ
सुखिया के घर के सम्मुख ही
चुंगी का नल ।
बस्ती के इन भोले-भाले श्रमिक जनों का
यही एक जीवन-दाता है ।
गर्मी के दिन और शीत की लम्बी रातों में जब लगती प्यास
यहां के दीन-दुखी इन मजदूरों को
तब तृष्णा का यही एक छोटा-सा नल उनका त्राता है ।
खाने, पीने, न्हाने, कपड़े धोने और रसोई करने
आदिक जल की जरूरतों को पूरा करने को यह नल ही
कल्पवृक्ष है ।
और, कि जैसा मैंने अभी-अभी बतलाया,
यह चुंगी का छोटा-सा नल
सुखिया के घर के समक्ष है ।

जाड़ों की ऋतु, एक रात को—
जबकि प्रभाकर के उठने में थे पूरे दो घंटे बाकी,
टप-टप यह नल लगा टपकने।
(क्योंकि नियम यह चुंगी का था :
मज़दूरों की बस्ती में नल तड़के तक ही चला करेगा,
कारण यही कि पीछे पानी भेजा जाता है उनके घर
जिन्हें न जाड़ों में जल्दी उठने की आदत !
और ठीक भी है, वे देते हैं चुंगी को टैक्स ढेर-सा।
कोई नहीं पूछता—उनको यह धन मिला कहां से ? कैसे ?)
धीरे-धीरे धार बंध गई;
और शब्द सुनकर फूटी ईंटों पर पड़ते इस पानी का
सुखिया की मां की आंखें खुल गईं अचानक नींद टूटकर।
(कौन कहे उसको निद्रा आयी भी थी या नहीं !) अस्तु।
तो—
बरसों की वह रोगिनि, दुखिया
कहने लगी जगा सुखिया को :
"अरी ! आज क्या पानी नहीं भरेगी जो तू
पड़ी हुई है अब तक यों बिस्तर पर लेटी ?"
(बिस्तर से उसका मतलब था—
उस कोने में पड़ी हुई टूटी-सी खटिया पर रक्खे
हल्के-मैले, अधफटे, पुराने-से कम्बल का
जिसको पांच साल पहले इस सुखिया की मां ले आयी थी।
किसी सेठ की मृत्यु समय पर किये गये पुण्यार्थ दान में।)
सुखिया तनिक कुनमुनाई,
ली करवट पहले एक इधर, फिर एक उधर को,
फिर चुपचाप रही सोती ही।
अर्द्ध-चेतनावस्था में वह आंखें मूंदे पड़ी ही रही
उठने का उसका न तनिक भी मन होता था।
(वह मन जिसने अब तक देखी थीं केवल सोलह बरसातें,
पर जीवन की विडम्बना से

जिसका प्रतिदिन वर्षों के समान कटता था।
आठ साल पहले का किस्सा है—
जब सुखिया के बापू ने
एक बार
अपने मिल-मालिक से जाने क्या बात कही जो
उसने उसको मार-मारकर बिलकुल ही बेहोश कर दिया था।
तब यह सुखिया छोटी थी,
और आज की बुड्ढी, सुखिया की दुखिया मां
सन्धि-द्वार पर खड़ी हुई थी।
पिटकर, अपमानित होकर, तब,
सुखिया का बापू कुछ लोगों के दल के संग
चला गया परदेस काम को।
चला गया सो चला गया,
वह कभी न लौटा...
और न भेजा उसने अपना कभी संदेसा।
तब से सुखिया की गरीब मां जैसे-तैसे दिन भरती है।)

बेटी को उठते न देखकर हांक लगाई फिर माता ने !
'उठूं, उठूं' कर किन्तु पड़ी ही रही अरे ! वह आंखें मूंदे।
उठना चाह-चाह करके भी उठ न सकी वह।
रात देर तक, शायद डेढ़ बजे तक करती रही सिलाई
और इस समय जबकि उसे थी निद्रा आयी
देख रही थी एक स्वप्न वह
(स्वप्न ?—अरे हां, स्वप्न !
वही तो था उसके उगते यौवन का एक सहारा !
—यौवन जो उसके मैले आंचल में छिपता था न छिपाये,
झलक-झलक उठता था बादल में चन्दा-सा।
निद्रा में सोता उसका वह भूखा यौवन
देख रहा था स्वप्न।

स्वप्न ! —जो धनिकों को है भोग, किन्तु जो श्रमिकों को है रोग
और है दुख का वाहक ! )
उसी स्वप्न को, उस छलिया बेदर्दी, मिटते-से सपने को
अपनी थकी हुई पलकों में कसकर भींचे
पड़ी रही वह।
उठ न सकी वह।
चीख रही थी मां कराहती,
चीख रहा था काम-काज,
हां,
चीख रहा था नल का पानी
छल-छल कर जो बुला रहा था—
"आओ, मुझको भर-भर ले जाओ गागर में।"
किन्तु स्वप्न में बनी हुई थी वह पटरानी;
राजा बना हुआ बस्ती का नटखट मंहगू
चला रहा था नाव दूर, नीले सागर में।
तट पर गाती थी वह : "साजन ! ..."

तभी तीसरी बार डांट खाकर सुखिया
उठी—
कांपती और सिकुड़ती-सी जाड़े में।
उठी—
क्योंकि उसको उठना था।
उठी—
उंगलियों से मलती उन थकी हुई जलती आंखों को।
(आंखों को, या सपने को यह कौन बताए ? )

३-१२-१९४०

# वे हाथ।

कक्ष में बैठा हुआ मैं
पढ़ रहा था एक अभिनव काव्य;
प्रेयसी के कर-कमल की बात।
वे मुलायम कर-कमल, वे मृदुल-माखन हाथ;
स्पर्श-भर ही से कि जो कुम्हलाएं
वही कोमल नवल-शतदल-से मनोहर हाथ !
पढ़ रहा था मैं उन्हीं की बात।
दृष्टि जो फेरी तनिक उस ओर
फिर लौटकर आयी नहीं,
वह रह गई।
उस सामने होस्टल-किनारे बन रही जो रोड
उस पर काम करते जो श्रमिक जी-तोड़
उनके हाथ पत्थर-फोड़
उन पर लग गई मेरी नज़र।
मैं अचानक सोचने लग गया, जीवन की विषमता का न पाया पार
वे बेचारे, भूख के मारे, गरीबी से लुटे मजदूर कुछ लाचार
कर रहे थे काम।
उनके वे कंटीले हाथ !
कर-कमल ?—रे ! लो न उनके सामने तुम कर-कमल का नाम
हाथ हैं वे आज के युग के मशीनों पर चढ़ी, धन से पिची,
शोषित, दलित, दुर्बल
मनुजता के कंटीले हाथ !
देख तो लो तुम उन्हें इक बार।
सोच पाओगे न फिर तुम उन रंगीले मृदु करों की बात।
धूल में लिपटे हुए, सूखे, फटे, मैले-कुचैले, दुख-ग्रसित,
शोणित-रहित वे हाथ।

मत कहो मुझसे चलाते हैं मशीनों को इन्हीं श्रमजीवियों के हाथ,
जिन मशीनों में पिचे ये कर तलक पाते नहीं चीत्कार
जानते हो उन मशीनों को चलाता कौन ?
वही कोमल कर-कमल, रे ! वही गोरे, कान्त कर सुकुमार !
स्वप्न के प्रेमी ! कहो मत उन्हें तुम कोमल कमल-कर,
वे बड़े ही क्रूर
तुम अरे ! जिनके परस की चाह को कहते चिरन्तन प्यार
उन्हीं से नोंचे हुए ये दीन, सूखे, अस्थि-पंजर-से विकल मजदूर
करते आज हाहाकार
रोते हैं अबल बेजार।

जो तुम्हारा हाथ लगते ही मृणालिनि-से पड़ेंगे टूट
छोड़ो उन करों की बात
चाहते हो यदि पकड़ना—चूमना—तो देख लो इक बार,
आंख पसार
हाथ ये, ये लौह-हड्डी से बने, मिट्टी-सने, मजदूर-जन के हाथ
थक गए हैं, पक गए हैं, जो विकल, असहाय,
है न जिनमें तनिक भी जीवन रहा अवशेष;
उभर आयी हैं नसें, रग-रग चटखती काम से हो चूर,
किन्तु फिर भी चल रहे—रुकते न क्षण को—काम में मजबूर।
स्वप्न के प्रेमी ! करो मत उन करों को प्यार
जो गुलाबी दीखते हैं—पर रंगे हैं इन्हीं दुर्बल श्रमिक-जन के
रक्त से जो क्रूर !
मत कहो उनको कमल, वे हैं सिंचे असहाय नर के अमृत-से
अनमोल-जीवन-बिन्दुओं की धार
और ये दो-चार वैभवशालियों की स्वार्थ-चक्की में पिसे मजदूर !
इनके कठिन, सूखे हाथ—
अरे ! देखो तो तनिक इक बार इनकी ओर।
खुरदरी खालों मढ़े, टेढ़े, बड़े, लम्बे, कुढंगे, शुष्क-से,
कीचड़-सने ये हाथ

फेर मत लो किन्तु तुम आंखें घृणा से।
यह वही कीचड़ कि जिससे
—जिस समय होगा नवीन प्रभात—
प्रकट होगा नवल युग का मुक्त नव-जलजात !

८-११-१९४०

## अपने कवि से (१)

१

तुम कहते हो शाश्वत संस्कृति, शाश्वत हैं कवि के मनोभाव !
पर भूल न जाना : परिवर्तन ही एक नियम, बस, है शाश्वत;
स्थायी हो सकता नहीं नीर, हां, स्थायी है उसका बहाव,
इतिहास बताता है—न कभी हो सकता है अतीत आगत;
वह है नित-नूतन, चिर-नवीन। जीवन की गति का चक्र सदा
चलता है आगे को ही करता नये मार्ग, सृष्टियां नयी,
टुक भी न रुका वह ! फिर क्यों कवि की कला बनी माया, प्रमदा,
गतिहीन, अचल ? 'कविता समाज की परछाईं'—यह कहां गयी
तेरी पुकार ? क्यों अब भी गाता है तू अपने मदिर-गान,
जब जीवन में संघर्ष ठना, गिरती है जब यवनिका आज
इस पूंजीवादी संस्कृति की, जब होने को है नव-समाज-
निर्माण, फूटता है जब नवयुग की संस्कृति का नव-विहान ?
कविता स्वस्फूर्त नहीं, वह है जीवन का सामाजिक प्रकाश;
युग-युग उसका आधार रहा है युग-सत्यों का ही विकास।

२

'मानव है सामाजिक प्राणी'—इसको तो तुमने भी माना,
उसके सामाजिक सम्बन्धों की भित्ति प्रणाली उत्पादन
की, सदा बदलती रहती है जो परिवर्धित और प्रगतिमाना।

इन सामाजिक सम्बन्धों से ही निर्मित होता मानव-मन,
उसके संस्कार, विभाव आदि। इस भांति व्यक्ति के भाव तथा
उसके विचार की जननी है वह अर्थनीति जो सदा किया करती नियमित
उत्पत्ति-प्रणाली को। कवि का मन है स्वतंत्र—
यह है बस केवल एक कथा,
है एक वर्ग-भ्रम : जीवन, संस्कृति औ' समाज नित परिवर्तित
होते ही रहते हैं उत्पादन-शैली की क्रान्ति के साथ।
अतएव कवे ! सम्प्रति समाज का वर्ग-युद्ध ही है जीवन
का भावी निर्णायक।
भावों की अविनश्वरता का भ्रम एक बहाना चिर-शोषण
का; समझो इसको और तोड़ दो फिर अपने मन के बन्धन !

३

मन के बन्धन—जो नहीं मुक्त होने देते तुमको पागल !
सपनों के स्वर्ण-सीखचों से। जो रखते हैं तुमको प्रसुप्त
विज्ञान-ज्ञान-जागृति-युग में। खोलो तो अपने पल दो पल
देखो, आत्मा है वस्तु गुणों का ही विकास ! वह है न गुप्त
कोई पक्षी जो बन्दी है इस पंजर का। झूठी है सब
परलोक-स्वर्ग-कल्पना। मूर्ख ! मरती है आत्मा भी जिस क्षण
मरता शरीर। यह ब्रह्म भला है क्या कोई घोंसला कि जब
उड़ती आत्मा तो उसमें जाती बैठ ! व्यर्थ यह क्यों क्रन्दन
ब्रह्म से मिलन का; वह न व्यक्ति। वह तो है बस दूसरा नाम
सामाजिक चेतनता का ही। आत्मा भी तभी सुखी होगी
जब हो समाज में सुख व शान्ति। अतएव कवे ! आराम
त्याग आओ सुमार्ग; जुटकर उन्नति में लग जाओ अपने समाज की
जो रोगी
है वर्ग-स्वार्थ की पीड़ा का।
सोच तो तनिक, क्या नहीं तुम्हारी शान्ति-चाह
श्रम से, संघर्षों से ही बचने की सीधी-सी एक राह ?

१९-६-१९४१

# अपने कवि से (२)

१

कितनी संकुचित, जीर्ण, वृद्धा हो गई आज कवि की भाषा !
कितने प्रत्यावर्तन जीवन में चंचल लहरों के समान
आये, बह गये; काल बुद्बुद्-सा उठा, मिटा; पर परम्परा—
अभिमुक्त अभी परिवर्तित हुई न परिभाषा
रूप की, व्यक्ति की। नव-विचार, नव-ज्ञान-रीति,
नित-नित नवीन जीवन के स्वर, पर प्राचीना
अब भी है वाणी की वीणा। कुछ अनुभव करते प्राण
किन्तु अभिव्यक्ति अन्य ही कुछ देती है उसे गिरा।
इस भांति आज कवि के अतिशय उत्कट विचार, सुख-दुख-प्रतीति
रह जाते हैं कल्पना-मात्र। सब बन्धन से दुष्कर बन्धन
है शब्दों का, जो नहीं निकट आने देता कवि एवं उसकी आत्म-पूर्ति
को जग के भौतिक सत्यों के; छाया के सदृश अर्थहीना
करता है उसकी वाणी को। कैसी विडम्बना ! स्थिर साधन
यद्यपि चिर-गतिमय साध्य। देवता बदल गये, बदली न मूर्ति।

२

कवि ! तोड़ो अपना शब्द-जाल, जो आज खोखला, शून्य हुआ।
यह है अपने पुरुषों की वैभव-भोगमयी कलुषित वाणी
मदमत्त, विलासिनि ! त्याग इसे—बनना है तुझको तो अगुआ
युग का, युग की भूखी, कमजोर हड्डियों का, जिसका पानी
है उठा खौल, घिर रहा विश्व पर घटाटोप बादल बनकर
बज नहीं सकेगा तेरी इस मधु की वंशी पर इनका स्वर
गर्जना-भरा। सड़ गई आज यह गिरा अबल, घिस गई व्यक्ति।
छवि-कनक-प्रवालों के जालों में खो बैठी यह आत्म-शक्ति
युग के मानव के सुख-दुख, आशा-प्रत्याशा का प्रतिनिधित्व
इसके कण्ठ से नहीं सम्भव। यह सदा स्वर्ग-वासिनी रही

अप्सरा बनी। जाने दे इसको स्वर्ग, खोज ले आज मही
अपनी मिट्टी के पुतलों के शब्दों में ही अपना कवित्व;
हमको न जरूरत आज देव-वाणी की, हम खुद ढालेंगे
जीवन की भट्ठी में भाषा, जी-चाहा रूप बना लेंगे।

३

इस छायामय भाषा ने कर डाला असत्य, अपदार्थ, हीन,
तेरे लघु-जीवन का था जो एकान्त सत्य—तेरे विचार
में केवल जो सार—वही तेरा प्रेयसि के लिए प्यार।
तू भूल गया, अज्ञान! रूप है मांस, रक्त, मृत्तिकाधीन
शब्दाडम्बर-चक्र में भ्रान्त। अप्सरा बना डाली तूने
षोडश-वर्षीया रूपवती वह पढ़ी-लिखी लड़की। पागल!
तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल।
तू सोचा किया : भाव-वाचक है तत्त्व—शून्य, जिसको छूने
की भी चेष्टा है व्यर्थ! दूर यों भाग गया तू जीवन से
तू सदा सोचता रहा : "मुक्त हो जाऊं जग के बन्धन से
उड़कर दिगन्त के पार"। सृष्टि को पाया तूने क्षण-भंगुर
निज दिव्य-दृष्टि से। रे! तेरी यह भाषा तो है मात्र-मुकुर
उस दर्शन का जिसने देखा बस आसमान थोथा, नीला;
नश्वरता से डरकर जिसने देखी न प्रकृति चिर-गति-शीला।

२१-४-१९४१

## सीमाएं : आत्म-स्वीकृति

है श्रान्त तन, है क्लान्त मन, मैं आज हूं निष्प्राण।
आगे बिछी है राह
जानता हूं : यही है वह पथ कि जिस पर मिल सकेगी मुक्ति,

मेरी और सबकी मुक्ति;
जानता हूं : यही है वह पथ कि जिस तक पहुंचने की
थी हृदय में चाह
जी में था अतुल उत्साह।
कड़ा करके जी, कमर कस, चल पड़ा था उस दिवस अम्लान
वंचितों के स्वत्व-संगर में चढ़ाने एक निज का दान
सोचता था : अब हुआ जीवन सफल, अब मिट गया अंधियार
छूटे अब हमारे बंध
तन के और मन के बंध
सोचता था : क्षुद्र मन के स्वार्थ पर ही था विगत आधार
मैं था मूढ़, मैं था अन्ध।
यों तोड़ नाते, छोड़ चिन्ता, एक निश्चय की संभाले टेक
मैं चला बनने अनेकों सैनिकों में एक।
तब नहीं मैं जान पाया था—कठिन है राह यह कितनी
तब नहीं मैं जान पाया था—क्षणिक है स्फूर्ति यह इतनी !
आज है अचरज यही अत्यन्त
उस महा-आरम्भ का हा ! क्षुद्र ऐसा अन्त !
दूर है, मंजिल अभी मेरी बड़ी ही दूर
किन्तु मैं तो बीच में ही आज थककर चूर
गिर पड़ा हूं राह पर।
जा रहे हैं साथ के वर-वीर कसे-कमर
किन्तु मैं अपने निजी कुछ मोह में, कुछ मूर्ख आशा में
इस अपूर्ण, अशक्त मन की स्वाभिलाषा में
अटक करके रह गया हूं स्वयं अपने जाल में
वर्गवादी हृदय के कटु व्यूह अति विकराल में

आज पहली बार मुझको मिल सका है ज्ञान मन की परिधि का
असहाय सीमाबद्ध अपनी शक्ति का।
शक्ति—जो यों चाहती है फैल जाये विश्व-भर की सर्वनाशा
अपहरण की नींव पर

किन्तु सीमा में बंधी, आकुल-घिरी, पथ-हारिणी बनकर
फूट पाती है नहीं
ढूंढ़ पाती है नहीं निज राह।

मानता हूं—सभी सीमाएं सदा मन-जात।
किन्तु मन क्या मुक्त है, उस पर नहीं क्या अपर बन्धन ?
जन्म जिस परिवार में मैंने लिया है,
जिस तरह की परिस्थितियों से यहां तक आ सकी है
ज़िन्दगी की सड़क मेरी
घूमती-फिरती, अनेकों मोड़ पर से काटती चक्कर
उन
परिस्थितियों का पिता है वर्ग और समाज पूंजी का,
और, मेरे विकल मन की सभी सीमाएं
वहीं से निःसृत हुई हैं।

११-११-१९४१

## वर्ग-हताश से

मत मांग भीख मत मांग दान
तू एक बूंद
पर मान सीख मत त्याग मान
मत आंख मूंद
रे खोल नयन देख ले राह
यह नहीं उचित
इस पर न चरण की पाल चाह
मत हो शंकित

यह हार नहीं यह अवश-अगति
वर्ग का राज
आवश्यक ही होगी न प्रगति
इस दिशा आज
रे ! वन न दास इस वैभव का
मत इच्छा कर
'पा लूं विलास'; क्या मानव का
स्वार्थी अन्तर ?
श्रेणी-विभक्त अपना समाज
इतिहास देख
मत बन विरक्त मिलती न आज
यदि ज्योति-रेख
तू हीन नहीं अवनति-कारण
वर्गीय नियम
देख लो तुम्हीं बल है शोषण
धन प्राणोपम !

लो, बढ़ो तनिक तोड़ दो आज
अपने बल से
यह मोह क्षणिक हो नव-समाज
निर्मित कल से
जिसमें समान हों सारे जन
सब की उन्नति
का रहे ध्यान ! —मेटो शोषण
हो मुक्ति प्रगति।

२०-६-१९४१

# जागते रहो

डूबता दिन, भीगती-सी शाम
बन्द कर दो काम,
लो विश्राम !

यह तिमिर की शाल
ओढ़ लो वसुधे ! न सिकुड़े शीत से यह लाल,
जग का बाल ।

वलय की खनकार,
दीप बालो री सुहागिनि ! जग उठे गृह-द्वार
बन्दनवार ।

किन्तु साथी ! देख,
हम न सोयेंगे, हमारा कार्य है अवशिष्ट
अपनी प्रगति का अब भी अधूरा लेख !
जागरण, चिर जागरण ही है हमारा इष्ट !

लो क्षितिज के पास—
वह उठा तारा, अरे ! वह लाल तारा, नयन का तारा
हमारा
सर्वहारा का सहारा
विजय का विश्वास ।

१२-१-१९४२

# पूंजीवाद की ऐतिहासिकता

१

पूछा करते हैं मित्र लोग : "क्या किया जगत में पूंजी ने !"
उनका विचार है केवल जग की जनता का शोणित पीने
के सिवा और कुछ नहीं किया उसने। लेकिन
यह उनका भ्रम है : बहुत किया उसने; अनगिन
हैं दिये दान। जोत ली वाष्प उसने हल में,
उसने समुद्र को लांघ लिया। अपने बल में
वह हनूमान के ही समान उन्मान-चिबुक।
उसने विराट् विश्व को एकता के अभिमुख
अग्रसर किया, शत-योजन की दूरी को पल
में पार किया बेतार बना। राष्ट्रीय भाव
की जननी है वह उसने जीवन का बहाव
द्रुत से द्रुततर है किया सरल से अधिक सरल।
वह प्रकृति-शक्तियों की स्वामिनि है; मानव की
वह आत्म-प्रतिष्ठ एक उन्नति-लिपि है भव की।

२

"तो फिर", कहते हैं अन्य मित्र, "रहने दो पूंजी की सत्ता।
जब उसने जीवन को उन्नत करने में हाथ बंटाया है,
तब फिर उसके विरुद्ध उठना होगी क्या भला बुद्धिमत्ता ?
तुमने फिर क्यों उसके खिलाफ में इतना शोर मचाया है ?"
लेकिन यह भी उनका भ्रम है। हो चुका शेष जिसका जीवन
उसको तो मरना ही होगा। हम आज आ चुके हैं उस थल
पर जहां अग्रसर होने में पूंजी है मात्र एक बन्धन।
पूंजी ने ही मानव-जग को बांटा है दो विरुद्ध दल
में। एक की प्रगति है अगति अपर की। अतः आज
पीड़ित असंख्य जन के हितार्थ मुट्ठी भर जन को झुकना ही
होगा, जिससे सुख और शान्ति पा सके विश्व-भर का समाज।

क्यान हीं देख पाते हो तुम : इक विष-फल है पूंजी का ही
जो आज दुखी, बेकार, क्षुधित, परतंत्र, हीन मानवं-समूह
जिनके जीवन को चूस-चूसकर फैला है यह विभव-व्यूह !

२१-४-१९४२

## नींव बदलो !

इस पुरानी नींव पर अब बन नहीं सकता नया घर

नींव—जिसकी मूल में है रक्त पीड़ित प्राणियों का
नींव—जिसके बन्धनों में सार भूखी हड्डियों का
नींव—अत्याचार के बल से बनाई है गई जो
नींव—जो लेती सहारा क्रूरता का, रूढ़ियों का
महल है यह एक तुच्छ नगण्य दल के लिए, लेकिन
देश के अगणित जनों को श्वास-रोधी अंध खंडहर।

तुम अहिंसा की विजय के देखते हो स्वप्न, लेकिन
तुम्हीं जीवन में सताते, चूसते हो लोक अनगिन
तुम स्वयं को देश समझे, स्वार्थ को ही राष्ट्र का हित
जानते भी हो कि तुमको कोसते हैं श्रमिक निशिदिन ?
सदा पूंजीवाद को ही श्रेय तुम देते रहे हो
शोषितों को मुक्ति और स्वराज्य की बातें सुनाकर

अब जगे हैं सर्वहारा, चाल सारी व्यर्थ होगी
पा चुके हैं जान अपने रोग का उपचार रोगी
खोखली इस नींव पर तुम कूदते कब तक रहोगे ?
क्या सहेंगे फिर पुरानी यातनाएं भुक्तभोगी ?

हम नयी बुनियाद पर स्थापित करेंगे लोक-सत्ता
छोड़कर सब स्वार्थ, आओ, सब बढ़ें, मिल, एक होकर

आज मानव की अमित हैं शक्तियां—संभावनाएं
आज पृथ्वी तृप्त कर सकती सभी की कामनाएं
एक ही परिवार-सा जब बन चला संसार सारा
फिर लगाते हो भला क्यों राष्ट्र-हित का क्षुद्र नारा ?
आज जीवन की कसौटी है परिश्रम सह-परिश्रम
सभी व्यक्ति समान हैं, अधिकार भी सबके बराबर।

८-११-१९४२

## मंसूरी के प्रति

१

माना : असत्य, कल्पना-मात्र परलोक; किन्तु री मंसूरी !
तू सत्य-स्वर्ग इस वसुधा पर। तेरे अंचल की छांह तले
पलते हैं देव-तुल्य नर गण ! विमलों-की-पुरी, अये विमले !
कब लांघ सका यह पापी, काला नर-समाज तेरी दूरी ?
तेरा पथ है अत्यन्त अगम। विरले ही जन जा पाते हैं
स्वर्ण की सीढ़ियों पर चढ़ कर। वह देख उधर, वे आते हैं
दो-चार कुली—पृथ्वी की हत-भागिनि निरीह सन्तान—
अबल कन्धों पर भार वहन करते। ये ही हैं वे सोपान
सचर जिन पर पग धर, वैभव के मद में झूम, चढ़े
तुझ तक आया करते हैं तेरे वरद पुत्र, तब वन्दनार्थ
तल-प्रान्तों की उत्तप्त यातना से बच कर। कैसे वे चांदी के टुकड़े !
जो दुख को अपने परस-मात्र से सुख में करते परिवर्तित,

जिनका अभाव इन मर्त्य-लोक के वासी दीनों को वशार्त
रखता है रौरव की लू में, जीवन-भर ज्वाला में पीड़ित।

२

मैंने अपनी आंखों देखे हैं वे बादल जो चरणों में
आनत, प्रतिपल शीतल करते रहते हैं तेरे प्रांगण को
जब झुलस रहा होता है निर्धन जग प्रलयंकर लपटों में,
जो तल के नद-सागर के जल के कण-कण का शोषण करके
तुझ पटरानी का करते हैं अभिषेक।
रम्य-रस-वसना उस रमणी-गण को
मैंने देखा है, जो गाती रहती हैं कल-कल निर्झर के
स्वर में अपना स्वर डुबा, हुलास-विलासों में भर-भर मस्ती,
जब चीखा करती हैं क्षुधार्थ नीचे मैदानों की बस्ती।
हां, मैंने अपनी आंखों देखा है विभेद यह, यह विरोध
जो साधारण घटना है अपनी पूंजीवाद-प्रणाली की,
जो है तेरा आधार-स्तम्भ, जिसका विनाश दो दिन ही की
है बात, यातना ने जिसकी विश्व को दिया है नया बोध।
आज के मदिर सुख में, रंगीनी में भूली ओ री अलका!
कुछ तुझे ध्यान भी है कल का, शोषित दल के उठते बल का?

२७-१०-१९४२

## अहिंसा

(व्यंग्य)

खाना खाकर कमरे में बिस्तर पर लेटा,
सोच रहा था मैं मन-ही-मन : हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है, जो लड़ता है क्षुद्र, तुच्छ मिट्टी के कारण!

क्षणभंगुर ही तो है रे ! यह सब वैभव-धन !
अन्त लगेगा हाथ न कुछ, दो दिन का मेला ।
लिखूं एक खत—'हो जा गांधीजी का चेला
वे तुझको बतलायेंगे आत्मा की सत्ता
होगी प्रकट अहिंसा की तब पूर्ण महत्ता ।
कुछ भी तो है नहीं धरा दुनिया के अन्दर !'

छत पर से पत्नी चिल्लायी : "दौड़ो, बन्दर !"

७-९-१९४१

## अहिंसक प्रतिकार

(व्यंग्य)

नहीं गलेगी यहां तुम्हारी दाल, सुनो हिटलर जी !
यह है भारतवर्ष, नहीं है फ्रांस, जिसे तुम मरजी
से डालोगे कुचल; यहां का एक-एक लघु बालक
है सत्य-दृढ़, और अहिंसा का शाश्वत ध्रुव-पालक ।
हो जायेंगे यहां तुम्हारे टैंक व्यर्थ, जब आगे
हम जायेंगे लेट । आत्म-बल-सम्मुख अरे अभागे !
है भौतिक बल हीन । जानता नहीं मूढ़ ! तू इतना
सत्याग्रही अजेय, लगा ले तू दम चाहे जितना !
यहां खड़े होंगे जब गांधीजी ले कर में लठिया
तब तेरी असंख्य सेना होगी निश्चल, ज्यों गठिया
लकवा के हों रोगी । चर्खा-सूत्र-पाश में बंधकर
हिल भी नहीं सकेंगे तेरे सैनिक ! भूल न जा रे !
यहां लगेंगे जिस दम ऊंचे युद्ध-विरोधी नारे

वीर, साहसी सत्याग्रहियों के, तब उनको सुनकर
भाग जायेंगे वायुयान-संचालक-गण सब तेरे !
इसीलिए कहता हूं तुझसे, सुन तू भाई मेरे !
अपनी खैर मनाना चाहे तो करना न चढ़ाई
कभी हिन्द में । यहां छिड़ेगी सत्याग्रही लड़ाई
जिसमें सदा हारता पापी, और जीतते गांधी ।
बच जाओगे अगर गांठ में बात हमारी बांधी,
और नहीं तो उनका अनशन-अनल-प्रचण्ड भड़ककर
क्षार-क्षार कर डालेगा बर्लिन को । जबकि कड़ककर
गरजेंगे अपने पटेल तो जैसे बीच पटेला
पिस जाता है ढेला, तैसे होंगे तुम उस बेला ।
युग-युग का आदर्श जगा है आज इंडिया-जन में
यहां शस्त्र का काम नहीं है, हम दुश्मन के मन में
देते जला ग्लानि का दीपक, वह नत-मस्तक होकर
गिरता है गांधी के पद में अपना सब कुछ खोकर ।
देख न लो तुम, राजकोट के भूप और मंत्री जी
ने हठ की गांधी के आगे, उसका ही तो फल था
एक बरस के भीतर दोनों विदा हुए । क्या चलता
ब्रह्मचर्य-सम्मुख साधारण नर का जोर ? नहीं जी !
सबको छलो, परन्तु न छल पाओगे ईश्वर को तुम
जो देता है गांधीजी को अन्तर्ज्योति । जहन्नुम
में जाओगे अगर करोगे तुम अमान्य यह कहना ।
सच कहता हूं भैया ! तुम मत इस धोखे में रहना ।
एक हमारा गांधी तेरे सब शस्त्रों से ऊपर
उसको हरा सके, ऐसी है नहीं शक्ति इस भू पर !

१३-२-१९४१

## 'हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता'

(लाल सेना का गीत)

हम हैं धरती के लाल, लाल कर देंगे रिपु के शोणित से
अपनी माता के अंचल को
हम ले मशाल नव-जीवन की बढ़ते जाते हैं तिमिर मध्य
ज्योतित करने वसुधा-तल को
हम क्रान्ति-पूत, हम क्रान्ति-दूत बनकर आये हैं
जीर्ण-जगत के द्वार फूंकने शंख-ध्वनि
हम हैं नवीन-युग की पुकार, वक्ष-स्थल में भर प्रलय-ज्वार
छा देंगे स्वर से व्योम-अवनि
हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता

हम हैं जनता की शक्ति, हमारी रग-रग में है रणोल्लास
हम हैं स्वतंत्रता के प्रहरी, हम में समानता के विकास
हम उठे संगठन का बल ले, पाने अपने अधिकारों को
हमने पल-भर में मिटा दिया जारों को, अत्याचारों को
हम खड़े हुए, गिर पड़ीं ध्वस्त हो पूंजीवादी दीवारें
हमने अपने पौरुष से निर्मित की जनता की सरकारें
हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता

हम उदित हुए लेकर नवीन-जीवन का दर्शन, नव-प्रकाश
हम जगे, हमारी आंखों में देखा शोषण ने सर्वनाश
हम रूढ़ि, अन्धविश्वासों के गढ़ पर चढ़ गये अदम्य-प्राण
हमने रजनी के पाशों से उन्मुक्त किया नव-युग-विहान
हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता

हममें संचरित स्वतंत्र-वायु हम पले मुक्त-आकाश तले
हममें वह शक्ति कि देख-देखकर ही दुश्मन का दिल दहले
हम क्षुद्र-क्षुद्र मिलकर समुद्र, साबित कर देंगे पृथ्वी को

ओ क्रीत-दास नाज़ियो ! पराक्रम दिखलाना हमसे सीखो
हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता

हम शिशु थे जब, पूंजीवादी जग समझ हमें निर्बल, अबोध
आया अपार सेना लेकर, कर देने तत्क्षण कण्ठ-रोध
पर हममें वह बल था कि चमत्कृत और पराजित खल भागे
हम तम के बन्धन काट-काटकर, अरुण-तरुण जग में जागे
हम आज शक्ति में हैं अजेय, हममें स्वतंत्र युग का प्रकर्ष
हमने देखे हैं वसुधा पर, निर्बन्ध-प्रगति के बीस वर्ष
हम भंग करेंगे हिटलर का जय-स्वप्न-क्रूर, अधिनायकत्व
हम मुक्त करेंगे जगती की जनता को पाने सकल स्वत्व
हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता।

१४-११-१९४१

## लाल जवानों का पानी

किस आशा के भ्रम में हिटलर ! चढ़ आये अंधियारे में ?
तुमने क्या समझा कितनी ताकत है रूस हमारे में ?
रूस हमारा लोचन-तारा, लाल-सितारे वाला है
तुम-से डाकू-सरदारों की, आफत का परकाला है
किस धोखे में कर बैठे थे हिटलर, तुम यह नादानी ?
आज देख लो लाल रूस के लाल जवानों का पानी
किन्तु रूस में नहीं नाम भी शोषण-अत्याचारों का
वहां सभी पाते प्रसाद हैं समता के अधिकारों का
वहां न पूंजी के बल पर चलती जनता पर मनमानी
आज देख लो उसी रूस के लाल जवानों का पानी

पड़ा नहीं था अब तक तुमको किसी बहादुर से पाला
मिला नहीं था अब तक तुमको ताल ठोंक लड़ने वाला
आज लाल सेना से मोर्चा है हिटलर ! खुलकर खेलो
जितने साथी मिलें, बटोरो—जितना झेल सको, झेलो
लेकिन यह तुम अभी याद कर लो होगी मुंह की खानी
चढ़कर सीखा नहीं उतरना लाल जवानों का पानी

जिसको तुमने गाफिल समझा, वह निकला पूरा तैयार
धोखा देने चले जिसे तुम, वह करता वारों पर वार
कट-कट गिरतीं तेरी फौजें, आज रूस की धरती पर
यह सोवियत का लौह-द्वार है, चाहे जितनी लो टक्कर
अरे, अन्त में तेरा ही सिर टूटेगा, ओ अज्ञानी !
पानी कर देता है सबको लाल जवानों का पानी

माना, तुमने जीत लिये कुछ शहर और कुछ खेत-ज़मीन
पर तुम यह मत समझ बैठना रूस हो गया जन-बल-हीन
दुनिया-भर के मजदूरों की आज़ादी का अमर निशान
मास्को अब भी अटल खड़ा है, और खड़े हैं लाल जवान
डेढ़ बरस से जो करते आते हैं तेरी मेहमानी
और एक दिन तुम्हें वहा ले जायेगा जिनका पानी

अब क्यों बगलें झांक रहे हो ? छूट रहे हैं क्यों छक्के ?
तेरे नाज़ी तो लड़ने में सुने जा रहे थे पक्के !
कहां गये वे तीन मास में रूस जीतने के सपने ?
अब क्यों कदम-कदम पर तेरी सेना लगती है कंपने ?
"क्या कहकर बहकाऊं ?"—गोयबिल्स की यह नयी परेशानी
दुनिया-भर में गूंज रहा है लाल जवानों का पानी

सारी दुनिया जान चुकी है इस रण में जीतेगा कौन
आज वीरता देख रूस की, उसके दुश्मन भी हैं मौन
ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका की आंखें भी आज खुलीं
वापस लौटो हिटलर ! जनता की जंजीरें आज खुलीं

यही सिर्फ़ अब बाकी है बस जागें जर्मन, जापानी
इनकलाब के लिए जगाता लाल जवानों का पानी

रूस तुम्हारी अन्तिम यात्रा, बाईस जून काल का दिन
मौत तुम्हारी ध्रुव निश्चित है, बस, अब अपनी घड़ियां गिन
तेरे ही सीने में लगने वाली है तेरी गोली
"स्तालिनग्राद कब्र दुश्मन की होगी" लाल फौज बोली।
"नाज़ीवाद मिटेगा जग से"—साथी स्तालिन की बानी
एक नया युग सरसायेगा लाल जवानों का पानी।

७-११-१९४२

## खोलो सेकिण्ड फ्रन्ट

सारी दुनिया की जनता की मांग यही है आज
खोलो सेकिण्ड फ्रन्ट
कंठ-कंठ से गूंज रही एक यही आवाज़
खोलो सेकिण्ड फ्रन्ट

चाह रहे चर्चिल-आमेरी
जय हो मेरी, जय हो तेरी
जय तो जनता की रे पगले ! कहता लोक-समाज
खोलो सेकिण्ड फ्रन्ट

अरे ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ! कुछ तो शर्म करो
आज काल की गति पहचानो, सीधे कदम धरो
रह न जायगा कहीं किसी का पूंजीवादी राज
खोलो सेकिण्ट फ्रन्ट

आज जंग के मौके पर तुम क्यों बैठे बेहोश ?
क्या न देख पाते हो तुम जग की जनता का जोश !
उठा लिया जब बीड़ा तब क्यों बनते धोखेबाज !
खोलो सेकिण्ड फ्रन्ट

यूरोप तुम्हें पुकार रहा है
शत्रु तुम्हें ललकार रहा है
बढ़ो-चढ़ो दुश्मन पर ऐसे जैसे गिरती गाज
खोलो सेकिण्ड फ्रन्ट

हिटलर के जुल्मों से कुचले देश कराह-कराह
देख रहे हैं आज तुम्हारी ओर, तुम्हारी राह
तुमको उन्हें बचाना है, रखनी है उनकी लाज
खोलो सेकिण्ड फ्रन्ट

डढ़ बरस से डटे हुए हैं लाल फौज के वीर
साथी बनकर उतरो, जागे जनता की तकदीर
नाज़ीवाद मिटे धरती से, सबको मिले स्वराज
खोलो सेकिण्ड फ्रन्ट ।

१२-११-१९४२

## लाल निशान

लेनिन का वरदान
हमारा प्यारा लाल निशान

आओ दुनिया के मज़दूरो !
आओ, भूखे-प्यासे शूरो !

आओ, हम सब मिलकर गायें इन्क़लाब का गान
हमारा प्यारा लाल निशान

यह हम लोगों की ताकत है
यह हम लोगों की हिम्मत है
यह हम लोगों की इज्जत है, हम लोगों की शान
हमारा प्यारा लाल निशान

संभलो, संभलो पूंजीशाही
हम जनता के वीर सिपाही
अपना हक़ पाने को आते हैं हम लाल जवान
हमारा प्यारा लाल निशान

आज आ गई घड़ी तुम्हारी
कर लो मिटने की तैयारी
मज़लूमों की टोली लड़ने आ पहुंचो मैदान
हमारा प्यारा लाल निशान

बढ़ो कदम से कदम मिलाकर
शोषण की बुनियाद हिलाकर
आज आखिरी जंग, भाइयो ! हो आज़ाद जहान
हमारा प्यारा लाल निशान !

२४-१०-१९४२

# बढ़ चलो, बहादुरो !
(पथ-गीत)

बढ़ चलो किसान धीर,
बढ़ चलो मजूर वीर,
बढ़ चलो बहादुरो ! बढ़े चलो, बढ़े चलो।

हाथ में निशान लो,
इन्क़लाब-गान लो,
पूंजीवादी दुर्ग पर चढ़े चलो, चढ़े चलो।

तुम नवीन आग हो,
क्रांति के चिराग हो,
देश की स्वतंत्रता की नींव तुम गढ़े चलो।

तुम न रुकोगे कभी,
तुम न झुकोगे कभी,
टेक यह संभालकर लड़े चलो, लड़े चलो।

९-३-१९४२

# मुक्ति-मार्ग

(१९४४-१९४७)

## कौन-सा पथ

कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल-अधीरातुर बटोही यों पुकारा
कौन-सा पथ है ?

'महाजन जिस ओर जायें'—शास्त्र हुंकारा
'अन्तरात्मा ले चले जिस ओर'—बोला न्याय-पंडित
'साथ आओ सर्वसाधारण-जनों के'—क्रान्ति-वाणी ।

पर महाजन-मार्ग-गमनोचित न साधन हैं, न रथ है
अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित
क्रान्ति-गति-अनुसरण-योग्या है न पद-सामर्थ्य ।

कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल-अधीरातुर बटोही यों पुकारा :
कौन-सा पथ है ?

## चौराहे पर

चौराहे पर खड़ा आज मैं सोच रहा हूं कातर होकर
कितना कम पाया मैंने जीवन में अपना कितना खोकर

कितना कम सीखा, सिखलाने आयी फिर-फिर पथ की ठोकर
मन का भी तम मिटा न पाया अनगिन दुख के दीप संजोकर

पथ ने मोड़ अनेक लिये, मैं अपनी गति को मोड़ न पाया
मेरी अपनी हिचक मुझी को लगी मार्ग की ही दुर्गमता
संगी आगे बढ़ते ही, मैं स्वयं हाय ! बन गया पराया
अविरल जीवन-धारा को क्या कभी रोक पायी है ममता ?

चौराहे पर सोच रहा हूं, गये कौन पथ से वे साथी
केवल दूर कहीं से उनके शंखनाद की प्रतिध्वनि आती
जय-यात्रा है, उनके मुख पर खेल रही होगी नव-आशा
व्यर्थ बनाकर मेरा जीवन, रोती है मेरी अभिलाषा

अरे साथियो ! यदि तुम तक भी पहुंच सके मेरी यह वाणी
इतना लेना जान अन्त तक मैंने पथ से हार न मानी।

## सो रहा है पूर्व

सो रहा है पूर्व गहरी नींद में पीकर उदासी
उधर पश्चिम में गगन की मेघ-माया चीर
खिल रहा है फूल-सा आलोक
चटखती हैं बेड़ियां, वे दासता की लौह की जंजीर !

घोर घन-घन हथौड़ों की चोट से
झनझनाहट से दिशाएं व्याप्त हैं
मुक्त होकर निरखते हैं आज बन्दी-गण चतुर्दिक
हर्षमय आश्चर्य से अपने जनों को
नाम-हीन नगण्य तारनहार को

और फिर समवेत स्वर में कर रहे आह्वान नवयुग का
दिशाओं को गुंजा !

सो रहा है पूर्व गहरी नींद में पीकर उदासी
रुग्ण, भूखे, त्रस्त और हताश बन्दी
खोदते हैं उंगलियों के नखों से नीचे धरा पर क्षीण रेखायें,
खींचते हैं श्वास लम्बी,
कोसते हैं भाग्य को, निज वंचकों के कलुष को, अन्याय को
दोष देते हैं परस्पर,
फिर कभी उस नींद में ही जागकर
खोजते हैं किरण आशा की, विभा की !

## तुम्हीं ने

खो गया जब पथ, थके जब पैर मेरे हार
चुक गया जी का सभी उत्साह जब उस बार
तब तुम्हीं ने तो किया था, अरे मन के मीत !
सुप्त मेरी धमनियों में स्नेह का संचार।

## ओ नियति !

आज तुमसे मांगता हूं बस यही वरदान
ओ नियति मेरी ! करो मत अब मुझे आह्वान

कठिन, तपती भूमि से सम्बन्ध जुड़ने दो
सत्य, निष्ठुर सत्य के प्रति दृष्टि मुड़ने दो

आज मिटने दो अहेतुक स्वप्न का अभिमान
ओ नियति मेरी ! यही दो एक मुझको दान ।

## लौ की पुकार

अभी शमा की मुसकानों का चुका सका तू मोल कहां
छूट, छूटकर आ, आकर इन लपटों को अपनाता जा
ज्योति बने या धुआं, परख होगी सनेह की यह अन्तिम
मिटने से पहले तू अपना सच्चा रूप दिखाता जा

आ, आ, आ मेरे परवाने !
लौ की लहरों पर लुट जाने !

## बेहया गीत

प्रतिध्वनित होते नहीं अब गीत मेरे किसी अन्तर में
गूंज बनकर उठ नहीं पाते सहज प्रतिदान के वर से,
आज तो वे पागलों की भांति अबूझ, अतर्क, बेतरतीब
काटते चक्कर,

शराबी के नशे-सी प्रेरणा उनकी बनी है
गलित, अन्ध, अग्राह्य औ' भ्रामक

इसलिए—
मानो इसी से बेहया ये गीत मेरे
स्वयं अपनी परिधि से, दो-चार टक्कर मार
खिसियाकर
लड़खड़ाते लुढ़क जाते,
और मर जाते !

## विफल बंदी

बन्द जब होने लगा था इस गुहा का द्वार
तब उठी थी गूंज बन्दी की अधीर पुकार :
"निकल जाने दे मुझे तू, ठहर जा पाषाण !
बस तनिक मैं जोड़ लूं बिखरा हुआ सामान।"
अधमुंदा ही रह गया जब मंत्र-स्वर से द्वार
मुक्ति-हित पर्याप्त था जब सन्धि का आकार
तब बढ़ा बन्दी, धरे दो डग विभा की ओर
निरख, झंपने लग गये दृग, सत्य-ज्योति कठोर
पैर कांपे, हृदय ठिठका, मूढ़ था कर्तव्य
विषम गह्वर-शैल-सा था अगम भवितव्य
जो किरण करती रही थी अब तलक आह्वान
अब वही मानो चुनौती दे रही थी तान
अटल निश्चय को द्विधा ने ज्यों लिया अब घेर
डगमगा कर लिये बन्दी ने नयन भी फेर
आसरा देती हुई बढ़ने लगी आसक्ति
उधर बीती जा रही थी मंत्र-स्वर की शक्ति

इधर बन्दी के हृदय में छिड़ा अन्तर्द्वन्द्व
उधर क्रमशः द्वार होने लग गया अब बन्द
देख तब चहुं ओर अपने गहन तम का पाश
लौट आया ध्यान में सहसा विमल आकाश
पलक भर में मिट गया सब द्वन्द्व, वह अविचार
तड़ित्-सा वह छूट, दौड़ा खोलने को द्वार
द्वार, लेकिन द्वार तो अब हो चुका था बन्द
अब विफल थे, व्यर्थ थे वे मंत्र-स्वर के छन्द
मुक्ति-प्रेरक शक्ति सारी बन गई थी हीन
कामना के स्वर निरन्तर हो रहे थे क्षीण।

## अपराजिता

कुछ दिनों से भर रही है हृदय में अति तीव्र अकुलाहट
घुट रहे हों प्राण जैसे किसी विषमय धुएं से आक्रान्त
सूझता जैसे न हो पथ विकल मन को, रुद्ध जीवन को।

चेत-लुप्तप्राय मैं चलता रहा हूं अब तलक जिस ओर चल निकला
जिस ओर जाते दीखते थे मुझे अपने ही सदृश वे व्यक्ति अगणित।
ध्यान यद्यपि था कि यह समुचित नहीं है,
ध्यान यह भी था कि मेरी राह कोई दूसरी है,
किन्तु फिर भी अलस वह अवसाद ओढ़े
बहा जाता था किसी निश्चेष्ट तिनके-सा !
उबर पाया था न मन की कामनाओं से, हृदय की स्वार्थ-सीमा से,
देखता था स्वप्न सुख के, शान्ति के, आनन्द के;
बाहरी तूफान की करके उपेक्षा
चाहता था लीन होना मधुर अन्तर्गीत में।

आज परिचित हो गया हूं किन्तु मैं उस सत्य से
मिल गया है अब मुझे वह बोध
कर रहा है जो प्रकाशित आज अनगिन जनों में संघर्ष का उत्साह
अपना सभी-कुछ उत्सर्ग करने की अटल क्षमता।
आज ही मैं जान पाया हूं कि मेरी यातना के मूल में है वह विषमता
जो कि जगती के जनों की शत्रु है,
जो कि उनको दासता में बांधकर उनके परिश्रम के सहारे
जुटाती है भोग और विलास के बहुमूल्य साधन
एक लघु-दल के लिए,
जो कि बर्बर शक्ति, शोषण की ध्वजा की प्रतिष्ठा के हेतु
रखती है करोड़ों मानवों को पंगु, नग्न, अशक्त औ' निर्जीव
लौह-शृंखल में।
आज ही मैं जान पाया हूं
कि केवल मैं अकेला ही नहीं हूं दुखी, चिन्ता-ग्रस्त
वरन् आज समस्त जीवन-स्रोत
रुद्ध हो इस विषम बाधा से विकल है फूटने, पथ खोज लेने के लिए
व्यस्त है गम्भीर जीवन-मरण के संग्राम में
अन्त में जिसके छिपा है बीज सुख का, शान्ति का।

आज सहसा दीखता है मुझे नव-आलोक
झर रही हों सामने दिशि-द्वार से ज्यों अरुण रेखाएं
जगातीं प्राण, देतीं अभय का वरदान !

और, साथी ! आज मेरे हर्ष का कोई न ओर, न छोर
मेरे हृदय में आनन्द-विस्मय का
कि मेरे क्षुद्र मन की वे सभी लघु-वर्तिनी आलस्य-सीमाएं
त्रस्त जिनके पाश में मैं हो गया था म्लान और विषण्ण
इस नव्य-ज्ञानालोक के संस्पर्श से अब हो चली है छिन्न और विलीन
प्रखर आतप की प्रभा में शिशिर बूंदों-सी
हृदय की सब क्षुद्रता, दौर्बल्य
हो चले हैं लुप्त, ज्यों कर्पूर,

फूटते इस जनोदय के प्रात की आभास-बेला में
भर रही मन में अयाचित स्फूर्ति पूरम्पूर !
आज मैं निर्बन्ध
उस संशय-भरे अति गलित जीवन का अनर्गल मोह तज कर
आ गया हूँ मुक्ति के पथ पर तुम्हारे साथ
न्याय के संघर्ष में सहयोग देने के लिए !
मुक्ति के इस मार्ग में हम-तुम अकेले ही नहीं हैं,
हैं हमारे साथ लाखों, करोड़ों, अरबों, असंख्य
स्वदेश और विदेश के भाई
कि जिनके तेज़ कदमों की सबल आहट निरन्तर गूंजती है
बन प्रबल आह्वान।
जिनके प्राण-स्पन्दन की प्रतिध्वनि भर रही है धड़कनों में
नित नया उत्साह
सह लिये चुपचाप
परिजन-वध, सती-अपमान, धन-अपहरण, बन्धन-दंश औ' गृहदाह
आज वे ही वज्र-वक्षी उठ खड़े हैं अडिग, सीना खोल
भर रहा है आज उनके नाद में इतिहास अपने बोल !

आज चारों ओर—
गगनभेदी घोष से, लो, डोलता है लोक-पारावार
पूर्व से पश्चिम तलक बस आज देती है सुनाई एक ही आवाज़
जिससे कांपता है जीर्ण भूमि-प्रदेश, नभ का गात,
छल का राज-सिंहासन
'मुक्त हैं, हम मुक्त हैं, हैं मुक्त सारे विश्व के जन-गण'—
फ्रांस के तट से उठी यह मुक्त-कण्ठों की अमर-ध्वनि
आज देती है सुनाई
पीत-सागर की तरंगों में,
सीन, राइन, ऐल्ब, पो, डैन्यूब, वोल्गा पार करती उमड़ती है
सिन्धु-सीक्यां की विकलता में—
वह विकलता जो बनी इन दग्ध घड़ियों में हमारे लोक-जीवन की

अमूल्या व्योम-व्यापी क्रान्ति-वाणी !
लाल तारे की प्रभा से फूटता जो मुक्ति का संगीत
मिल उसी में, एक हो, यह विश्व-जनता की विकलता
आज सारे बन्धनों को चूर करके,
दूर करके सब निराशा
फैलती है सर्व देशों में।
काटती दुर्दान्त, क्रूर, प्रमत्त दुष्टों का प्रसारित लौह-चक्र-व्यूह
विघ्न-समूह
बन चली अपराजिता !

## मुक्ति-मार्ग

मुक्ति-मार्ग के हम सहयात्री, हम सहयोगी

अन्तर् का आह्वान आज बाहर से आया
युग-युग की पीड़ा ने जग में एक नया सम्बोध जगाया
व्यापक संस्कृति और उच्चतर जीवन-स्तर की नींव जमाने
हम जाते हैं
इस महान अपनी यात्रा में क्या तुम संग नहीं आओगी ?

विश्व-प्राण में आज विकलता है जीवन की
टूट रही हैं एक-एक कर कड़ियां बन्धन की, जन-जन की
निद्रा ही है शक्ति तिमिर की बिखर जाय जो
जाग उठें यदि लघु तारे भी
फिर इस अरुणोदय-बेला में भी क्या प्रिये ! नहीं जागोगी ?

गिरि-शैलों को फोड़-फोड़कर प्रकट हो रहा है जो निर्झर
हम-तुम भी दो बिन्दु उसी के, क्यों न फूट निकलें हम बाहर !
आओ, हम अपनी धारा को खोजें, पायें, गति की अन्तर्गति
बनने को
यही एक पथ है विकास का, यही शक्ति सततोन्मुख होगी ।

---

'**मुक्ति-मार्ग**' संग्रह की अन्य कविताएं कवि ने **ओ 'अप्रस्तुत मन'** ! में शामिल कर ली थीं, और वे उसी प्रकार प्रकाशित की जा रही हैं।

# ओ अप्रस्तुत मन !

(१९४३-१९५८)

## बीज तू—तू मूल-भव !

प्यार से सींचूं तुझे ओ बीज मेरे !
एक दिन तू ही बनेगा फूल
एक दिन गुण-गान गाएंगे सभी ये भ्रमर तेरे
आ जुटेंगे सभी तेरे कूल
इसलिए आयास
क्योंकि होगा व्यक्त तू ही हास, मधुर विकास में !
इसलिए आयास
क्योंकि आलिंगन बनेगा एक दिन तू ही अनिल के पाश में

देख मत तू : आज तेरी सेज मृण्मय है
देख मत तू : भ्रमर-दल किस ओर तन्मय है
सोच मत तू : तुझे आता है न वैसा हास
ध्यान कर : तेरी अभी कितनी नवल वय है !

सतत चेष्टा,
सतत मुक्ति-प्रयास, चिर-उद्योग
—फूटने का, विकसने का पर्व—यह संयोग !

हास, फुल्लोल्लास—पाएगा सभी, तू समय आने दे
आज मिट्टी में तुझे मुझको बिछाने दे
जल बहाने दे !

बीज तू, तू मूल-भव ! तू ही अरे ! है वह्नि-चिह्ना क्रान्ति
सुप्त तू, तुझमें प्रसुप्ता अनुगता भू-कान्ति !

## तू उड़ न दूर !

उन्मुक्त द्वार, पंख में शक्ति भरपूर
फिर भी ओ मेरे विहंग ! तू उड़ न दूर
तू उड़ न दूर यह कंचन की कारा बिसार
उस नभ से भी बढ़कर है मेरा प्रबल प्यार
उस नभ से भी जो फैला है सब ओर तना
तेरे महान जीवनादर्श का रूप बना ;
उस नभ से भी जिसके रंगों का आवाहन
है जगा रहा तेरे प्राणों में यह कम्पन
मुक्ति के लिए, जिसके अछोर नीलिमा-स्रोत
में मिल जाने के लिए विकल तू, ओत-प्रोत !

उन्मुक्त द्वार, मेरे विहंग ! पर उड़ न हाय !
मत कर कंचन को अर्थ-हीन, यों निस्सहाय
बादल, बिजली, चंदा, सूरज, तारे—अनेक
हैं नभ के, पर मेरा है तू ही मात्र एक ! !

## निर्मल तुम्हारा रूप

ज्यों गगन में जग उठा कोई नया तारा
ज्यों हृदय में फूट, फैली सरस कोई नयी जल-धारा
वेग में अपने डुबोती युगों के मरु का किनारा
प्राण ! यह नव-रूप,
पावक-सा अखण्ड, सतेज, यह निर्मल तुम्हारा रूप
नमित मैं
जैसे कि मेरे शीश पर छायी प्रकम्पित पलों में
नभ की सलोनी धूप !

# अन्तर्मुक्ति

केले के पत्तों-से
मन पर आशाओं, अभिलाषाओं के ये पर्त—
पर्त पर पर्त
व्यूह-से
कारा-से
चट्टानों-से,
अति अनुल्लंघ्य, अविभेद्य, अगम !
बन्दी मन की ये जंजीरें
जब झन-झनकर बज उठती हैं
भावानिल में
अथवा अभाव की आंधी में,
लगता है तब,
सोने-रूपे के आंसू में मन रोता है !
संझा की बुझती बेला में
चांदनी रात के शेष प्रहर में
जीवन के संघर्षों से हो क्षुब्ध,
क्लान्त मन, लगता है, पाता विराम !

कैसा छल है, कैसा दुराव !
बंधन का, आत्मवंचना का कैसा मरु-सा विस्तृत प्रसार !

मुक्ति के सूरमा !
ध्यान रहे :
जन भी बन्दी है, मन भी है !

## परिधि और केन्द्र

यह नहीं होगा कि मेरा प्यार मुरझा जाय
यह नहीं होगा कि मेरा व्यक्ति ही खो जाय
और यह भी तो नहीं हो पाएगा सम्भव
परिधि सिमटे औ' सिमटकर केन्द्र में सो जाय !

## हृदय की गुहा

सूनी, अंधेरी यह हृदय की गुहा —
बन्द ;
चारों ओर चट्टानें उठीं, संस्कार-सी !
भाव मन के कुलबुलाते जीव
ज्योति और वात-हीन क्षुद्र परिधि में
रेंगते, ज्यों गिलगिले, अन्धे, मिट्टीखोर केंचुए !
धूप का न नाम है
न नाम हरियाली का !
दुर्गन्ध कड़वी और तीखी—सड़ी प्याज़-सी !
आकांक्षाओं के छाया-प्रेत
न-कुछ में बनते और मिटते
भयंकर
अ-यथार्थ
स्वार्थ, स्वार्थ !

## धूल भरी आंधी

रूखी, तपी, जलती हुई दोपहर के बाद
यह धूल भरी आंधी !
सब कुछ पर रेत जमी, मन तक ज्यों किसकिसा रहा है !

बेरंगे, गरम दिन—छटपटाती रातें
पूछता हूं रह-रहकर, किससे, क्या जानूं :
'ओ रे ! बता मुझको :
यह सब है किसलिए, क्या है इसका निदान ?
कब होगा अन्त इस जड़ता का, द्विधा का ?
कब तक यों और तपूं—
कब तक ?
कब आएगी वह वर्षा की एक बूंद, स्नेह की एक कनी
अगली हरियाली की प्रतीक बनी ? '

उत्तर में किन्तु बस सिर पर यह आसमान—
मटमैला, रेतीला,
और यह दरवाज़े फटफटाती आंधी !

## यह पीर नयी

भाषा अशक्त, भावों को व्यक्त न कर पायी
वाणी कायर, ओठों पर आकर लौट गयी
मैं चाह रहा हूं, किन्तु न कह पाता कुछ भी
यह अनुभव बिलकुल नया, प्राण ! यह पीर नयी !

# चुनौती

खोल सीना, बांधकर मुट्ठी कड़ी
मैं खड़ा ललकारता हूं।
ओ नियति !
तू सुन रही है ?
मैं खड़ा तुझको यहां ललकारता हूं !

हां, वही मैं
जो कि कल तक कर रहा था चरण में तेरे निवेदित
फूल पूजा के
करुण आंखों को भिगोकर
कांपती उंगलियों की अंजलि संजोकर !

हां, वही मैं
जो कि कल तक कह रहा था :
तुम्हीं हो सर्वस्व मेरी
और यह जीवन तुम्हारी कृपा-करुणा का भिखारी,
दान दो संजीवनी का, या गरल दो मृत्यु का : स्वीकार है।
विनत शिर, स्वर मन्द, कम्पित ओष्ठ !

हां, वही मैं
आज खोले वक्ष, उन्नत शीश, रक्तिम नेत्र
तुझको दे रहा हूं, ले, चुनौती
गगनभेदी घोष में
दृढ़ बाहुदण्डों को उठाए !

क्योंकि मैंने आज पाया है स्वयं का ज्ञान
क्योंकि मैं पहचान पाया हूं कि मैं हूं मुक्त, बंधनहीन
और तू है मात्र भ्रम, मन-जात, मिथ्या वंचना,

इसलिए इस ज्ञान के आलोक के पल में
मिल गया है आज मुझको सत्य का आभास
और ओ मेरी नियति !
मैं छोड़कर पूजा
—क्योंकि पूजा है पराजय का विनत स्वीकार—
बांधकर मुट्ठी तुझे ललकारता हूं,
सुन रही है तू ?
मैं खड़ा तुझको यहां ललकारता हूं !

## बनता तभी प्रपात है !

अपना ही मन खो बैठे जब, औरों का क्या बात है,
सह ले पगले ! चुप हो सह ले, आया जो आघात है।

दुनिया बहुत बड़ी है
जीवन का भी है विस्तार बड़ा,
तू किस भ्रम में युगों-युगों से
इस सराय के द्वार खड़ा ?

चलता-फिरता दिन है मूरख ! चलती-फिरती रात है !

गहराई को कौन पूछता
गहरा तो है कूप भी,
पर न पहुंचता वहां समीरन
नहीं पहुंचती धूप भी।

जीत उसी की, जो लहरों का देता रहता साथ है !

बादल का क्या दोष
फोड़ यदि सका न यह चट्टान तू ?
पानी तो पानी है, मत कर
यों अपना अपमान तू !

कल्प-कल्प का धैर्य जुटे जब, बनता तभी प्रपात है !
सह ले पगले ! चुप हो सह ले, आया जो आघात है !

## फिर भय क्या ?

मन को कब किसने पहचाना, ओ रे पागल !
इन बेगानों के दल में तू भी चलता चल।
यदि पा जाए कुछ सिद्धि, सफल होगा प्रयास,
अन्यथा अन्त तो होगा ही कुछ और पास।
फिर भय क्या, तू भी बांध कमर, ले धनुष तान,
सब अटकल से ही यहां लगाते हैं निशान !

## यह देश कैसा है ?

मुस्कराना भी मना, यह देश कैसा है ?
ढल चला उत्साह, यह आश्लेष कैसा है ?
छलक आया जब नयन में दान जीवन का
पूछता संसार : 'यह आवेश कैसा है ?'

## दो सत्य

सत्य है रवि, सत्य रवि की दीप्त किरणें भी
पर मनोहर बादलों की श्यामली माया
सत्य है व्यवधान-अन्तर, सत्य तुम, मैं भी
किन्तु फिर भी यह निलय का भाव घिर आया

क्योंकि दोनों सत्य हैं : तम भी, उजेला भी
मैं तुम्हारे साथ भी हूं, प्रिय ! अकेला भी !

## धुंधली रेख

...और ज्यों-ज्यों बीतते हैं दिवस जीवन के
बन्ध ढीले हो चले हैं प्राण के, तन के
दूर, धुंधली रेख-सा वह दीखता क्या है ?
चरण में उत्तर नहीं इस प्रश्न का मन के !

## भार मत बनो !

प्यार मेरे, भार मत बनो !
राह है यह : चाह रुकने की यहां वर्जित
कामना विश्राम की, गति-चरण में अर्पित
पथिक के उपहार ओ ! पथ-हार मत बनो !

राह है यह : एक मन-बल ही यहां सम्बल
मत बटोरो स्वप्न रे ! मत बिखेरो दृग्जल
मुक्ति-खोजी ! मुक्ति का व्यापार मत बनो !
राह है यह : यष्टि ही बस है तुम्हारी टेक
ठोकरों पर मत लुटाओ व्यर्थ भावोद्रेक
सार हो तो मोह का संसार मत बनो !
भार मत बनो !
प्यार मेरे, भार मत बनो !

## तुम धरा हो !

तुम धरा हो :
झील, पर्वत, नद, विटप, मैदान, मरु में लुप्त—डूबीं !
और मैं आकाश हूं :
बादलों से भरा, फिर भी शून्य—अम्बर ! !

## समय रुक जा !

समय रुक जा, स्तब्ध हो जा रे समीर !
मिल रहे युग-तत्त्व मोहित क्षितिज चीर
सिन्धु में पगली तरंगों ने लिखा :
नभ झुका भूमिल भुजाओं पर अधीर !

वेदना लौ बन चली, छाया प्रकाश
कट रहे हैं, कट रहे हैं तिमिर पाश

काल-सरिता उतर पहुंची अतल में
अस्थियों को अब मिलेगा मुक्ति-हास

छोड़ अर्जुन ! तीर, फूटे अमृत धार
तुष्ट हो यह भीष्म, विशिखासीन प्यार !

## झंझावात आता है

झंझावात आता है
प्रलय के मेघ लाता है
अंधेरा घुप्प चारों ओर
घन-घन छा रहा बेछोर

कड़क से दहल जाएगी
अभी आकाश की छाती
बड़ी बौछार आएगी
कि धरती डूब जाएगी

समन्दर में समाएंगे किनारे टूटकर सारे
नहीं फिर टिमटिमाएंगे
दबी उपचेतना के ये मरण-व्याकुल मलिन तारे
समय की धुकधुकी अब बन्द होगी
अन्ध होंगी ज्ञान की आंखें
यही पल है
यही है वह चरम क्षण
लो
सृजन के अन्त ने बढ़कर पसारी हैं विकल बांहें !

अन्तरवासिनी मेरी अरी शम्पे !
न देखो नैन-कोरों से
कि झंझावात आता है
धरा के वक्ष पर उभरे उरोजों के पहाड़ों को
मसलता कड़कड़ाता है
कि रोमों से खड़े तरु-वृन्द को झकझोरता
वह चीर जाता है
कि झरनों की,
कि नदियों की
शिराओं-उपशिराओं में
लहू की तप्त लपटों-सा
प्रखर उद्दण्ड ज्वाला के विशिख-सा सनसनाता है !

न देखो नैन-कोरों से
कि अब भूकम्प आएगा
गगन के तड़ित-कम्पित वक्ष में पृथ्वी समाएगी
कि तम की इन भुजाओं में किरण यह डूब जाएगी
कि छूटेगी लपट, ज्वालामुखी अब फूट निकलेगा
सृजन के अन्त के पल में
प्रलय के जोश में मदहोश
बर्बर, मूल, आदिम, शक्ति-तत्त्वों में ठना संघर्ष
यह दुर्धर्ष !

न देखो नैन-कोरों से
अनावृत सत्य का तूफान आता है
तरंगों के चरण थामे गगन की देह ढलती है
तड़ित की पसलियों में पिस धरित्री टूट गलती है
दिशा के अलक सागर में भुजंगों-से तड़पते हैं
कि तम के दैत्य ने निगलीं
सृजन के अन्त के पल में
झुकीं आलोक-मालाएं !

न देखो नयन-कोरों से,
गिरा दो पलक का परदा
कि मूंदो कान
हो सुनसान
दरवाज़े करो सब बन्द
सपनों की अटारी के
कि बाहर गरजता तूफान आता है !
मिटा दो चेतना जग की
कि ढीले छोड़ दो तन-मन
झुका दो शीश
मस्तक गाड़ दो
चुपचाप
ओ शम्पे !
कि यह पल
बीत
जाने
दो !

## बोल ओ बन्दी !

बरसते बादल, सरसती वायु, पल तन्मय,
बोल रे ! कुछ खोल गांठें, बांट कुछ संचय।
बांट रे ! जग मांगता है आज रस की भीख,
भरे दिल ओ ! भरे बादल से क्रिया यह सीख।

सीख : अन्तर की विकल घुमड़न बने रसदान,
तप्त भावोच्छ्वास झुक भेंटे धरा के प्राण।

लघु हृदय की लहर छू ले फैल नभ के छोर,
सफल हो यह साध कण-कण को अमृत में बोर।

बोल ओ बन्दी हृदय की ग्रंथियों के ! बोल !!
ढाल जीवन, धरा उत्सुक है अधर-पुट खोल
तड़ित-कम्पन-तेज में बीते न अन्तर्शक्ति
शून्य में ही चुक न जाए सिंधु की आसक्ति
दंभ है यह उच्चता, रे ! रिक्त है यह धूम
उतर भू पर, प्रणय की हरियालियों को चूम
आज छा ले सृष्टि को तू सजल भार उतार
कामना हो फलवती, हो फूल का संसार
मुक्त हो तू, महत् हो तू, ज्यों अमित आकाश
छोड़ यह संकोच, मन रे ! तोड़ मिति के पाश।

## रात, सपने और दीवार

रात की काली घड़ी में शीश मेरा
अचानक
दीवार से टकरा गया !

रात थी वह बरसती, गहरी, कंपाती
शीश था सपनों-भरा
और वह दीवार
पक्की, ठोस
जिसकी नींव पृथ्वी में समाई थी अतल तक !

एक पल को खो गया मन का नियंत्रण
और उस पल में

अचानक
शीश यह दीवार से टकरा गया !

स्विच दबाया :
कक्ष में फैला अशेष प्रकाश,
हेर देखा :
दाग़ था दीवार पर मेरे रुधिर का !

## नव-मेघ

रो रहा है आज सारा लोक बनकर यक्ष
शापित, त्रस्त, निर्वासित
कौन बनकर दूत पहुंचाए संदेशा
शान्ति की अलकापुरी को !

एक ही था मेघ : अब वह है कहां ?
एक ही था वह महाकवि : सो गया !

आज का यह यक्ष पर निर्भर नहीं है
उठ रही है उमड़ती वह ऊर्ध्वगामी गूंज
गूंज : जो होगी न केवल दूतिका
वह चुनौती भी बनेगी
शाप को
शाप-सत्ता को !

## मेघ और बिजली

रात भर रोता रहा है मेघ नभ में
नीर झर
और सारी रात तड़पी है तड़ित भी
नींद आयी नहीं पल भर !

विकल, बिखरी बांह के लघु-पाश में
बांध बिजली को कहा यों मेघ ने :
'सोख लो यह नीर
मुझको मुक्ति दो,
समा जाओ प्राण के आकाश में,
ठहर जाओ
आज की हो रात सुख की नींद;
फिर जगूं मैं कल सबेरे
तप्त, निर्मम भाव से सन्नद्ध !'

तड़ित पर ठहरी कहां !
चंचला वह छूट भागी
तड़पती ही रही सारी रात,
नींद आयी नहीं
और—
रात भर रोता रहा है मेघ !

## ओ अप्रस्तुत मन !

गमन के क्षण
अब रुको मत ओ अप्रस्तुत मन !
चल दो—

राह में लगी है आग
चलना है खेल नहीं
पर क्या सकोगे भाग
कर्म से बचोगे कहीं ?
बच्चों की भांति यों मचलो मत भीरु मन !
चल दो
कि आ पहुंचा है चलने का क्षण !
चल दो—
क्षुद्र इस जी की यह कमज़ोरी कुचल दो !
दौड़ती इस धड़कन से पैरों में बल दो !
रुको मत, चल दो !

प्रात उठ देखा था :
हवा के झकझोरे से
पेड़ के पत्ते टूट
बिखर गए आंगन में
शाम तक पीले भी पड़ गए !

तुम भी अब चल पड़ो
झाड़कर सुख के क्षण
हवा रुकती नहीं, रुकोगे भला क्यों तुम ?
तुम से ही खिलेंगे दूर एक दिन नये कुसुम
द्रुम से यह मोह क्यों अबूझ मन !
चल दो—
चल दो कि आ पहुंचा है चलने का क्षण !

# बहुत बाकी है

शान्त हो जा मन ! कि जीना है अभी—
अभी जीवन में अनागत हैं न जाने और कितने ज्वार
जाने और कितने अभावित, अति अकल्पित संघर्ष
कितनी व्यथा, कितना हर्ष !

छूट जाएं साथ के संगी पुराने—
अरे ! धुंधली भले ही पड़ जाए
तेरे इन रुआंसे लोचनों में
यह कंटीली राह,
और इतना ही नहीं,
अचरज नहीं जो कुछ क्षणों को
हृदय का अति यत्न से संचित, सधा उत्साह
भी सो जाय
हो जाये विवश, बेकार
किन्तु मन मेरे ! न भूल
अभी पथ का नहीं आया कूल
अभी यात्रा का नहीं है अन्त
इस विषम संघर्ष में तू अभी भी हारा नहीं है ?

व्यर्थ शंकाएं न कर
व्यर्थ की दुष्कल्पनाओं से न हो कातर
शान्त हो जा,
अभी जीवन में बहुत कुछ है अनागत
बहुत बाकी है !

## सहज स्वीकार

भूल मेरी थी
इसी से कर रहा हूं, लो, सहज स्वीकार
इसमें लाज काहे की !

पर हंसो मत यों भरे विद्रूप !

इस क्षणिक जय में न भूलो शक्ति मेरी
जो अभी तक साथ है,
शक्ति है तो पैर सीधे भी पड़ेंगे एक दिन
और उस दिन कहीं पछताना न पड़ जाए तुम्हें
सोचो ज़रा !

भूल का स्वीकार मुझको है सहज
क्योंकि अब भी अडिग हूं
क्योंकि अब भी आत्मबल हारा नहीं हूं
दृष्टि मेरी सधी है अब भी भविष्योन्मुख !

स्वप्न मेरे थे असम्भव : भूल थी यह—मानता हूं
किन्तु मत भूलो कि यद्यपि स्वप्न मेरे थे
मैं नहीं था स्वप्न का !

## न्याय की बांहें

घोट दूं न गला ?
कि अब तू हो गया है बावला !

स्वप्न तेरे सब असंभव
और इच्छाएं अनोखी, ढीठ !
जिनके फेर में तूने किया अनमोल जीवन नष्ट
तू शराबी है, अधम, परित्यक्त,
जीने का तुझे अधिकार क्या ?

तू समझता रहा अपने को विशिष्ट
सोचता था :
प्राप्य ही है इष्ट, चाहे हो निकृष्ट
खोलकर पर कान सुन ले स्पष्ट—
काल का रथ-चक्र बढ़ता सदा निर्मम भाव से
उसके निकट है व्यक्ति का क्या मूल्य ?
तेरी याचना बेकार है !

न्याय की ये बढ़ रही बांहें कठोर
प्रस्तुत हो !

## लौट जाओ चांदनी की रात

लौट जाओ चांदनी की रात !
मुझसे दूर हो।

एक युग से मैं विरस जीवन बिताता आ रहा हूं
सब तरफ लगता बड़ा सुनसान
कोई शब्द तक आता नहीं है।
गहन तम का पर्त मन पर छा गया है
और नीचे है सभी निस्पन्द, जड़
मानो किसी गहरे अंधेरे गर्त में

मैं वेग से गिरता चला ही जा रहा हूं—
यह अधोगति तीव्र है, पर एकदम निश्चेष्ट !

चांदनी की रात !
मन के इस तिमिर को तुम बढ़ाओ मत !
हटाओ वक्ष से यह मृदुल हलका हाथ
परस भी मुझको तुम्हारा आज वर्जित है !

चन्द्रलोक-निवासिनी ! नभ की परी !
गहन अन्तर से तुम्हारा योग ही क्या ?
तुम भला क्या मुक्ति दोगी
तुम पराई हो !
तुम्हारा दान बिलकुल व्यर्थ है !
लौट जाओ—
मुझे तरु की छांह में ही शान्ति पाने दो !

## दबा हुआ शहर

खोदो, खोदो, खोदो !
मिट्टी के, कंकड़-पत्थर के इन ढेरों के भीतर
अतल अंधेरे में
डूबे दिल-सा ही बैठा
शान्त नगर प्राचीन
लुप्त, गुप्त, ओझल, मलीन—
सम्पूर्ण किन्तु,
अब भी रक्खे है अपना वह अविकल स्वरूप
सौध औ' स्तूप
अब भी गर्वोन्नत तने हुए उसके देवालय के गुम्बद

अब भी भवनों, गृह, शालाओं के स्तम्भ दम्भ से डटे हुए
केवल सब पर
उसके अपने कण-कण के तन पर
छायी है यह काल-रेत,
केवल उसके सब कुछ पर यह मीलों-मोटी मिट्टी जमकर
आ बैठी है
नियति-यान की चक्र-धूलि उसको घेरे है !

वह अग्निमुखी है धन्य
कि जिसकी बर्बर-आदिम शक्ति फोड़ व्यवधानों को
वसुधा की छाती फाड़
प्रकट करती है अपना नग्न रूप
छा लेती है निस्सीम धरा को अपने कुत्सित-घृणित सत्य के
ज्वारों से,
किन्तु वह विध्वंसक है,
अन्धा है,
वह है विराट नाश का पुत्र
जिसकी ज्वाला का स्पर्श बड़ा ही निर्मम है,
है दुर्निवार,
जिसके आगे सारी संस्कृति,
सारी संचयिता,
हो जाती है क्षार
व्यर्थ का पुंज,
जाल !
उसका किरीट है लपटों का
जो मिट जाती हैं
सदियों तक भी किन्तु तेज जिनका
रखता है उष्ण भूमि के जीवन को
लेकिन जो मिट जाती ही हैं !

यह नगर किन्तु मिट नहीं सका !
संस्कृति का कवच पहनकर इसने जीत लिया नश्वरता को !
अब भी इसके मूर्च्छित तन में नित रुधिर दौड़ता रहता है,
अब भी इसके बैठे दिल की सांसों का तार नहीं टूटा,
यद्यपि अब इसमें नहीं शक्ति
जो उठे ऊर्ध्वमुख, हो अशान्त
पर फिर भी है बेचैन अतल की शैया पर,
जीवन की गति से छिन्न-भिन्न होकर भी
जीवन की गति में
मिल जाने का अभिलाषी है !
वह मूलों का रस नहीं
हंसी फूलों की बनने का इच्छुक
पर वह अशक्त
उसको अवलम्ब अपेक्षित है !
युग-युग से अपनी धुंधली आंखें फाड़
धड़कते जी से कम्पित अन्तर से
वह देख रहा है राह
कि जीवन की बांहें अब झुकें, बढ़ें,
लें पाणि-ग्रहण करके उबार !

ऊपर :
जीवन के संघर्षों की गतिशील क्रियाओं के
सम्मिलित और संजीव चरण
भागते-दौड़ते,
नव-नव विध्वंस और निर्माणों की गर्मी में भरे
अरुक, अडिग,
पल-पल परिवर्धित पावक-सा उत्साह लिये
धन्वा से छूटे हुए बाण के ही समान उद्धत, उन्मुख !

नीचे :
सदियों के संघर्षों का निष्कर्ष बना
नश्वरता से लड़कर विजयी होने वाली
मानव संस्कृति का सार
हृदय के दिव्य, भव्य संस्कारों का आधार बना
यह नगर शान्त, सम्पूर्ण,
सभ्यता की पूंजी को नव-विकास में लगा डालने को उत्सुक
भावी जीवन को समृद्ध-स्वस्थतर बनाने का प्रण ले,
यह नगर—
दबा पड़ा आकुल, मूर्च्छित !
नव-प्रकाश की विकल प्रतीक्षा की पीड़ा को मौन संभाले
बाट देखता :
मनु की इस अति दीर्घ-कठिन यात्रा के चरम, परम जय-क्षण में
मेरा हर्ष-नाद भी मिल जाए नव-सन्तति के दृढ़ स्वर में
नव सन्तति
जिसमें मेरी मिट्टी को ही शक्ति और गति बोल उठी है !

आओ हो ! भूकम्प-वेग से, क्रान्ति-शक्ति से
खोदो, खोदो—
प्राप्त करो इस सदियों से निश्चेष्ट और निर्जीव नगर को
मुखरित कर दो इसकी दीवारों को नये-नये नारों से
इसके चौराहे में हो नवयुग के वीरों का वन्दन !

## चुक गया जब नेह

चुक गया जब नेह, बाती जर गई
मत करो चीत्कार
पगले !

शैल की चट्टान-सा हो
है डटा यह अंधकार अपार
इसको भेद पाएगा नहीं यह कण्ठ-स्वर
पहुंच पाएगी नहीं उस पार यह तेरी पुकार
व्यर्थ है ललकार
अनुनय व्यर्थ है !

पर न हिम्मत हार;
प्रज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप
ढाल उसमें शक्ति अपनी
लौ उठा !
लौह-छेनी की तरह आलोक की किरणें
काट डालेंगी तिमिर को
ज्योति की भाषा नहीं बंधती कभी व्यवधान से !

मुक्ति का बस है यही पथ एक !

## बस, दो क्षण

उन्मुक्त आज मैं, किन्तु दीन, आकुल, मलीन
बन्धन-विहीन होकर भी कितना उदासीन !
छूटा है पंछी पिंजर की कारा से, पर
पंखों की वह गति उठी नहीं है अभी उभर
खुल चुकी आंख, लेकिन बाकी है धुंधलापन
बीती बातों को भूल नहीं पाया है मन !

मेरे अनुशासक ! दो क्षण मुझको और मिलें
बस, दो क्षण—प्राणों की लौ से सर्वांग खिलें !

## आओ बाम !

बीते हैं अनेक दिन तुमको गए हुए
और इस बीच प्रिये ! रितु भी बदल गई,
दूर हुई शिशिर की शीत-कम्प रात हिमधार-सी,
आया और हँस के चला गया बसन्त
सरसों को सरसाता हुआ,
आया फाग
चारों ओर रंग का उठाता राग
लाल अनुराग की लगाता आग जग में,
ताम्र-पीत गेहूं अब खेत में पका खड़ा
हलकी हुई बयार
धीरे-धीरे अपने मिलन का, लो, जुड़ता सरंजाम
आ रहा है ग्रीष्म, कान्त, उद्दाम,
आओ बाम !
आओ अभिराम ! !
मेरे जीवन की लौ-सी ! !

## घृणा का 'डोज़'

फ़रमाइए
क्या चाहिए ?
श्रीमान जी हे मन हमारे !
ज़रा इतना तो बताइए :
अब भला क्या और चाहिए ?

पहले कहा था आपने :
हो पास में मेरे तनिक पैसा !

वह मिल गया ;
फिर कहा :
अवकाश भी मिलता रहे, हो काम कुछ ऐसा !
वह भी मिला ;
अब आप कहते हैं कि पैसा हो मगर फिर भी न हो कुछ काम
सीधे कहें तो यह कि आखिर आप हैं पूरे नमकहराम !
अब पड़ गया मालूम :
सचमुच आपको बस और कुछ नहीं—
कुछ कष्ट चाहिए,
तकलीफ चाहिए,
संघर्ष चाहिए,
स्नेह-संवेदन नहीं—
बस आपको कुछ दिन घृणा का 'डोज़' चाहिए !

## कटार की धार

धार है कटार में
तीखी और तेज़
मेरी छाती पर बरसों टिकी रही है जिसकी नोंक
और मैं जीता चला आया हूं
संत्रस्त, भयभीत,
प्रतिक्षण कम्पित, अधीर, निःस्व, असहाय !

और आज ओ कटार !
तेरी इस धार को है मेरा यह आभार
कि अब इन्तज़ार की घड़ियां सब बीत गईं
हो गया प्रमाणित यह आखिरकार :
हृत्कम्प चाहे जितना हो बलवान हो
कवच नहीं है वह !

## मैं निरा विलायती स्पंज हूं

अपनी अशेष आत्मशक्ति से
कण-कण संयोजित रस से
कल्प-कल्प के अभंग योग के उपरान्त
फोड़कर शैल के हृदय के
उमग उठे जो स्वप्रकाश के उछाह में
ऐसी भीम गति के प्रयोगी
उस निर्झर-से कवि को मेरा नमस्कार है !
जीवन को जिसने बनाया एक साधना
और उस साधना के योग से बनाया गान
नहीं, कभी भूल के भी मैंने नहीं सोचा है
कि मैं भी बन सकता हूं उस कवि के समान !

मैं निरा विलायती स्पंज हूं
मेरे प्राण रिक्त और छिद्रमय
उनमें कहां है रस ;
उनमें कहां है स्रोत ?
मैं तो मात्र बाहर के जीवन को सोखकर
फिर उगल देता हूं
सो भी तब जब कोई आके निचोड़े मुझे !
शक्तिहीन
व्यक्तिहीन
गतिहीन व्यापार
इसमें नहीं है कोई आत्मदान
इसमें नहीं है मेरे अहम् का अवसान
तप और साधना से कोसों दूर
अपनी बनावट से मजबूर
मैं मशीन-युग का हूं मात्र एक छोटा यंत्र,
योग नहीं,
हो तो उपयोग भले मेरा हो !

# चांदनी मेरा करेगी क्या ?

मैं नहीं हूं पेड़ का पत्ता कि अपना सिर हिलाऊं
चांदनी मेरा करेगी क्या ?
मैं नहीं हूं तनिक भी कमजोर, कोमल
क्योंकि मेरे दिल नहीं है
चांदनी मेरा करेगी क्या ?

पंथ का सम्बन्ध राही से नहीं है वह
जो कि प्रेमी-प्रेमिका का हुआ करता है
जिस तरह
उसके किनारे की घनी तरु-राजि की छाया
खिलखिलाते मधुर फूलों की सुगन्ध
पक्षियों के गीत
झरने की सुरीली तान
सब बने हैं उसी राही के लिए
उसी के हित में सभी का मान है चरितार्थ
ठीक वैसे
चांदनी भी है उसी के प्रति गगन का प्यार !

मैं निपट सीमेण्ट का हूं पंथ
मेरे लिए भी है वही राही परम हित सम्पूर्ण जीवन का
उसी को माध्यम बना मैं जान सकता हूं
कि छाया दे रहे हैं पेड़
खुशबू दे रहे हैं फूल
थपकी दे रही है चांदनी !
दे रहे हों, दें, मुझे क्या ?
मैं पड़ा हूं जड़, गड़ा हूं भूमि में
है बाह्य-अन्तर सभी कुछ मेरा कठोर

मेरे हृदय हो तब तो ?
चांदनी मेरा करेगी क्या !

## व्यर्थ की आराधना

कांपता है हिया
लौ भी झुक चली
अब ज़िन्दगी का दिया बुझना चाहता है
ओट आंचल की इसे क्या तुम न दोगी ?

पर,
सबेरा हो गया है
नव-उषा का हास पथ को धो गया है
कर रहा दिनकर किरण की भेंट चरणों में
स्वप्न का लोगी सहारा किसलिए इन क्षणों में ?
कब तलक यह व्यर्थ की आराधना होगी !

कह रहा है सूर्य : कानों में प्रभाती कूक दो !
कह रहा है दीप : प्राणों में अंधेरा फूंक दो !

## सूखती संवेदना

शप्त जग की तप्त धरती पर झुलसते पैर
छटपटाते सब अलग, सब समझते हैं ग़ैर
सूखती संवेदना पोखर - सरीखी बंद
प्यार के जल से यहां पर पनपता है बैर !

## ऊंट का पक्ष

मेघ भी कवि है कि जो बरसा सदा जलधार
तृषित धरती को दिया करता अमित उपहार
और कवि है ऊंट भी जो पेट में जल धार
तप्त रेगिस्तान को करता हमेशा पार !

## नाग, बीन और मदारी

'नाग देखोगी, लहरता नाग ?
मोहिनी ओ बीन री ! क्यों छेड़ती यह राग
कब तलक सोता रहेगा नाग !
यद्यपि
जागकर भी क्या करेगा वह
विष के दांत अपने खो चुका है जो !

नहीं जंगल है, पिटारी है
ज़िन्दगी भी मौत की ही भांति भारी है
दूर नभ अब लुप्त है, आकाश ढक्कन है
बन्द झोली में लिये जाता मदारी है !

जीवन खोखली फुफकार है
चल रहा हूं मैं पराई पीठ पर, धिक्कार है !
पड़ा सोने दो
अपनी कैद की इन दुखद घड़ियों में
मुझे खुल, फूट रोने दो,
जगाओ मत,
राग, मोहन राग अपना तुम सुनाओ मत !'

नाग ने मन में कहा था,
बीन लेकिन भांपकर बोली :
"अभी पल भर में मदारी खोलकर झोली
निकालेगा तुम्हें
भीड़ के आगे तमाशा-सा बनाकर
नचा डालेगा तुम्हें,
वही होगा सही अवसर भाग जाने का
जंगलों की मुक्त मीठी सांस पाने का,
साथियों में पहुंचकर सन्देश यह देना :
'बीन के स्वर में पराई फूंक है !
जिस मदारी ने तुम्हारे दांत तोड़े हैं
उसी के दृढ़ सख्त हाथों में बंधी
मैं बोलती हूं बस उसी की बात !
इसलिए
मेरे स्वरों से वे खिंचे आएं नहीं,
राग के सौन्दर्य पर सुध भूल, बंध जाएं नहीं,
विषमता की चरमता है यह
कि मैं अपने स्वरों की सफलता पर दुखी होती हूं !' "

शक्ति जिसकी व्यर्थ है : वह नाग
राग जिसका व्यर्थ है : वह बीन
दोनों उपकरण हैं व्यर्थता के उस तमाशे के
जो मदारी के लिए आजीविका है,
लाभ है !

## गरम जल की धार

कभी बचपन में सुनी थी एक सागर की कथा
जिसके गहन, गम्भीर अन्तर में निरन्तर
गरम जल की धार होती है प्रवाहित
और जिसकी उष्णता से
पार्श्ववर्ती तीर की जलवायु रहती है गरम !
तब प्रकृति का खेल इसको मानकर
मुझको हुआ था बहुत विस्मय,
पर परेशानी नहीं !

आज मैंने जान पाया है :
तुम्हारा हृदय भी है उसी सागर की तरह गम्भीर, द्वेलित
सहज जिसकी उष्णता से
शीत मेरा मन अजाने तप रहा है।
और इसको जानकर फिर हो रहा है बहुत विस्मय
किन्तु विस्मय से बड़ी है आज इस मन की व्यथा !

## प्यार के साथी ! सच मानो

मेरे यौवन के युग में यह जीवन बिखर गया
प्यार के साथी ! सच मानो
दुख से धुलकर अन्तर का सब पानी उतर गया
सार के साथी ! सच मानो

अधूरी, चूर हुई जो साध
बात है अब उनकी बेकार
कामनाओं का सिन्धु अपार

सूखकर दलदल बना अपार
होंठ पर चिपके सुख के गीत
पपड़ियां बनकर अति दयनीय
गए सपनों के पल भी बीत
नहीं कुछ भी बाकी कमनीय
श्वास-चक्र चलते हैं, मन का रथ पर ठहर गया
भार के साथी ! सच मानो
मेरे यौवन के युग में यह जीवन बिखर गया
प्यार के साथी ! सच मानो

रोज़ की घटना है यह बात
वही होता है जो अनपेक्ष
किन्तु जो चाहा है दिन-रात
नहीं होने पाता वह एक
समय की गति पर मेरा ज़ोर
नहीं है, यह था मुझको ज्ञान
समय की गति भी मुझको ज्ञात
नहीं है, अब पाया हूं जान
लहर-लहर का ढंग देखकर मैं भी लहर गया
धार के साथी ! सच मानो
मेरे यौवन के युग में यह जीवन बिखर गया
प्यार के साथी ! सच मानो

क्रान्ति के युग में पाकर होश
क्रान्ति की गति से होकर दूर
नहीं है सम्भव कोई जोश
इसी से हूं मैं भी मजबूर
किन्तु मजबूरी का यह शोर
बराबर होता जाता व्यर्थ
एक दुनिया मिटती इस ओर
दूसरी बनने में असमर्थ

अगति और असफलता का यह अनुभव मिला नया
हार के साथी ! सच मानो
मेरे यौवन के युग में यह जीवन बिखर गया
प्यार के साथी ! सच मानो !

## पथ की खोज

'बढ़े चलो, बढ़े चलो !'—मगर बढ़ें तो हम कहां ?
कि रास्ता ही जब नहीं तो डाल दें कदम कहां ?
हमें प्रयाण के लिए न व्याख्यान चाहिए
पड़े हैं अन्ध-कूप में हमें उठान चाहिए !

## मरण संगियों का गीत

नहीं किसी से मांगी भीख
नहीं भूख से निकली चीख
जिए शान्ति से, जब तक जिया गया
बन न सके साथी जन-पथ के
छाती के ऊपर युग-रथ के
पहिए फिरे और संग में यह हिया गया !
हम 'कल्चर' के हामी थे
लेकिन कपड़े दामी थे
बेचा मन, फिर भी तन ढांक न पाए
छोड़ न पाए शर्म-हया
जब जुलूस द्वार से गया
हम खिड़की से भी तो झांक न पाए !

प्राणों में था अमित प्रकाश
मिल न सका लेकिन अवकाश
एक किरण भी बांट न पाए हाय !
क्षितिज-पार का था आह्वान
अटके पर दफ्तर में प्राण
आयु कट गई पीते-पीते चाय !
नहीं कभी भूले संघर्ष
करते रहे विचार-विमर्श
प्रबल तर्क थे दोनों के, हम क्या करते !
कभी न हो पाया निर्णय
होगी किसकी अन्तिम जय
भूल न कर बैठें : हम सदा रहे डरते !

## चलते रहो !

स्वप्न मत गढ़ो
काव्य मत पढ़ो
मतलब से मतलब मानो, मेरे भाई !
यह है ज़मीन
यह है मशीन
इनका उसूल पहचानो, मेरे भाई !
सपने हैं थोथे
मिथ्या हैं पोथे
डूबेगा इनमें जो खाएगा गोते
चलती ज़मीन
चलती मशीन
अपनी जगह से हिलती कभी न !

दिन हो या रात
सपनों का साथ
कविता का पाठ
मिथ्या जगत में तुम्हें उलझाएगा !
संध्या - सकाल
देखो धरती की चाल
या मशीनों की माल
एक दिन तुमको भी चलना आ जाएगा!

## दो मुट्ठी चावल

घृणा की पोटली दाबे बगल में
सकुचता, सहमा
तुम्हारे स्नेह को लकुटी बनाकर
जब चला था मैं

तब हृदय में, यदि कहूं, विश्वास था
तो झूठ होगा
किन्तु इच्छा थी कि हो अन्तिम परीक्षा
प्रिय ! तुम्हारे दान, मेरे विनय की !

ठीक है,
तुम ठीक समझे हो तुम्हें यदि याद आया है सुदामा
—पर नहीं, यह ढंग है केवल
क्योंकि सच में बात मेरी है, नहीं उस विप्रवर की—
किन्तु फिर भी
क्या सुदामा के स्मरण से
कृष्ण की भी बात तुमको याद आयी ?

और यदि, हां,
तो भला फिर आज भी क्या रुक्मिणी कांपी नहीं !

## ओ बिजली वाले !

युग-युग की प्रतिभा से मधु-सपने संचित कर
फिर उनकी छाया से मुझको यों वंचित कर
ओ बादल-से मीत ! दूर जाने से पहले
क्यों न आज तुमसे मेरा मन इतना कह ले :
अपना पानी बादल आप नहीं पीता है
उसके संचय से यह सारा जग जीता है
नमस्कार करता हूं, जाओ दूर गगन में
पर इसका प्रत्यय फिर भी है मेरे मन में
बादल हो तो धर्म तुम्हारा जल बरसाना
ऊंचे उठकर तुम्हें सदा नीचे ही आना
आज भले ही छा जाए सब ओर उदासी
लेकिन मेरी धरती नहीं रहेगी प्यासी
गरज-चमक से चाहे जितना तू दहला ले
मेरा ही जल है तुझमें ओ बिजली वाले !

## चांद से कह दो !

मार बिजली की कटारी
मर गए बादल
टपकते खून से धरती नहायी
रंग गया लोहित क्षितिज का आसमान !

और फिर
उनके अमर उत्सर्ग का प्रतिदान बनकर
दीखने लग गयी हीरों की जड़ी वह चांद की कुर्सी
अचानक भर गया सब शून्य
तारों की रुपहली गद्दियों से
चमक जिनकी डाल जग पर
मोह का रजतावरण
अब करेगी राज सारी रात !

किन्तु केवल रात भर ही ।
भोर होते ही जगेगा
बादलों का रक्त लोहित क्षितिज पर
तमतमाकर जो उठेगा किरणधारी सूर्य बन
हर किरण में लिये बिजली की कटारी !

चांद से कह दो :
अगर हो शर्म
तो फिर
उस घड़ी के पूर्व ही
पश्चिम दिशा में डूब जाए !

## दर्द का टीका

कह नहीं सकता : आज यह बात प्रासंगिक रही कि नहीं
ओ मेरे जीवन्त क्षणों की रागिनी !
कि यदि मैं तुम्हें पा जाता तो मैं संसार का सबसे सुखी व्यक्ति होता
फिर भी, कम-से-कम यह बात प्रासंगिक न भी हो, पर सच है

कि आज जब मैं तुम्हारी झलक से भी दूर हूं
मैं अपने लड़खड़ाते लथपथ चरणों से
सारा विश्वास खोकर भी उसी ओर जा रहा हूं
जिस ओर से तुम्हारी हलकी गूंज मुझे टेरती है
—यद्यपि मेरे मन को टेर लगने वाली वह गूंज
किसी भद्र-समाज में तुम्हारे संगीत-प्रदर्शन की गूंज है,
और तुम्हारे छनकर आते मीठे स्वर में
मुझे निमंत्रण लगने वाली पुलक
तुम्हारी आत्मश्लाघा की पुलक है—
फिर भी मैं चलता चला आ रहा हूं
क्योंकि स्वर और संगीत किसी एक के नहीं होते,
उनसे मिलने वाली प्रेरणा मुट्ठी में नहीं बंधती।
और जब तालियों की गड़गड़ाहट में तुम वर्तुल मुस्कान से खिल
उठोगी
तब मैं तुम्हारे प्रकाशित मस्तक पर
अपने अप्रकाशित दर्द का टीका चढ़ा दूंगा !

फिर बताओ : क्या होगा ?
मुस्कान तो मंत्र-बद्ध नागिनी-सी फिर बन्द हो जाएगी,
तालियां भी रुक जाएंगी।
क्योंकि ताली वाले हाथ जाने की जल्दी में होंगे,
और अपने गले में पड़े फूलहार को भी तुम उतार फेंकोगी
क्योंकि तुम्हें अपने प्राणों पर बोझ पसन्द नहीं है
पर दर्द के उस टीके का तुम क्या करोगी ?
जो एक ही दर्पण में तुम्हें दीख सकेगा
और वह दर्पण
मेरे मन में है !

# सूखे की पुकार

सूखे, तपे खेत-सा ही चौड़े में पड़ा हुआ
चुनौतीदार धूप से निरन्तर लड़ा हूं मैं
रूखे खिन्न ठूंठ-सा कटारीदार लू की चोट
झेलता झुलस गया, फिर भी खड़ा हूं मैं !
पोखर-से प्यासे इन प्राणों की सतह
पहले कीच-सी घनाई
फिर जमी, सूखी,
और फिर अन्त में
कागज़-सी फट गयी !
फिर भी डटा ही रहा,
भागा नहीं,
हंस-सा, बलाक-सा
होके उड़न-छू
किसी पर्वत की रानी से
ठंडी हिम-छांह का सहारा कहीं मांगा नहीं,
मांगा नहीं मैंने कोई कृत्रिम उशीर-पट !
खुला ही रहा हूं नित,
अपनी अनन्त मोहमयी इस माटी पर
बिछा ही रहा हूं, अरे फैला ही रहा हूं
और कस के तपा हूं, खूब डट के तचा हूं मैं
ओ रे मेरे मेघ रे !
फिर भी बचा हूं देख, फिर भी बचा हूं मैं !

तो फिर ओ मेघ ! आज अपनी फुहार से
मेरा दग्ध मन क्या न शीतल करेगा तू ?
धरती के ताप, मेरे तप के प्रमान रे !
खेतों को भरेगा,
ठूंठ रूखों को करेगा हरा,

सिर्फ़ मेरे अन्तर की दरकी दरारों को
प्लावित किए बिना
फूटी इन पोरों को क्या रीता छोड़ जायगा ?

कृपा नहीं चाहता हूं,
दान नहीं मांगता हूं,
मेरा एक भाग
जो है आज तेरे पास
और जिसका हूं मैं ही एकमात्र सही अधिकारी
वह मुझे ला के दे !
कजरी की एक मेरी तान
इन मल्हारों की एक मेरी कड़ी कहां छोड़ दी
उसको उठा के दे !
आ रे आ ! झूंखे इन अंगों पै उतरकर
अपना सलोना श्याम-बिन्दु-चीर डाल दे !
खिन्न, छिन्न-भिन्न इन प्राणों पर
बांध फिर रस का सेतु,
मेरी इस दाहिनी भुजा में थमा
अंकुर की रंग-ध्वजा
जीवन का जय-केतु !

कब से तरस रहीं पथराई आंखें ये
इन्हें गीले काजल की रेख से परस जा !
आ जा रे ! बरस जा !
आ जा रे ! बरस जा !

## मौन की चट्टान

तोड़ो मौन की चट्टान
फोड़ो अहम् का व्यवधान
आकुल प्राण के रस गान
भीतर ही न जाएं मर
बोलो, ज़ोर से बोलो
व्यथा की ग्रंथियां खोलो
संजो लो मन कि फूटें
कंठ से फिर गीत के निर्झर !

## हम नहीं हैं द्वीप

हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के
वरन् जीवन से भरे निर्मल सरोवर !
भले मिट्टी से हुआ निर्माण,
किन्तु मिट्टी है परिधि ही
नहीं हैं मिट्टी हमारे प्राण !
सूर्य की दीपित किरण से
नीर के भावुक मिलन की हम विमल सन्तान !

ठीक है, हम आज चारों ओर सीमा से घिरे हैं
किन्तु हममें जी रही गति की असीमित धार
हममें जी रहा है
सिन्धु की गहराइयों का
मेघ की ऊंचाइयों का प्यार !
हम प्रखर आलोक, गतिमय भावना के पुत्र हैं
हम नहीं हैं रेत के रूखे, अशुभ अम्बार !

हम सरोवर हैं
नहीं हैं धार !
रुद्ध, सीमित, स्थिर बना जीवन हमारा
हर किनारा बन गया व्यवधान !
अब नहीं हममें तरंगित गान
और बन्धन की व्यथा में खो गया अभिमान।
विवश हम अब बह नहीं सकते,
और अपनी ठौर अपने आप ही में बन्द
अपनी बात आपस में किसी से कह नहीं सकते !

आज भी यद्यपि हमारा है अमित उपयोग :
हम अतिथि की प्यास के उपचार,
निकटवर्ती वनस्पति के मीत संवेदन-भरे,
नगर की लघु ज़िन्दगी के मेघ,
गांव की भोली, सलोनी कामिनी के कलश के वरदान,
मन्द बुझती सांझ में सोपान पर आसीन कवि के आर्द्र
मिलनाह्वान !
पर हमें बेचैन करता यह व्यथा का भाव :
कट चुके हम धार से,
गति से हमारा हो चुका अलगाव !

हम सरोवर हैं
नहीं हैं धार !
यह नहीं है शाप अथवा नियति अपनी,
किन्तु यह तो बस समय की बात
क्षणभंगुर परिस्थिति !
हम नदी के पुत्र हैं, पाषाण-कारा से घिरे !
दूर उसके क्रोड़ से, हम दूर उस स्रोतस्विनी से,
तदपि उसके अंश, हम वंशज उसी के !
हो गए हों हम भले म्रियमाण
पर

समवाय के अभियान में मिल
एक होने के लिए आकुल हमारे प्राण !

तुम अगर हो द्वीप
रूखी रेत के बेडौल टीले !
धार की ही गोद में बैठे विषम व्यवधान,
तो भले ही तुम रहो ऊंचे, महान
पर कृपा कर यह न सोचो :
धार की हर लहर जो आती तुम्हारे पास
ठोकती है वह तुम्हारी पीठ
या तुम्हारी कीर्ति में वह छेड़ती है तान !
वह तो है विकल, बेचैन तुमको लांघ जाने के लिए
सहज गति अनिरुद्ध पाने के लिए
धारा बढ़ाने के लिए !
और हम यद्यपि नहीं हैं धार
यद्यपि हैं सरोवर मात्र
किन्तु यह केवल समय की बात !
लौटकर टुक ग्रीष्म आने दो,
किरण का हमको तनिक वरदान पाने दो,
उफन जाने दो !
हम अहम् को भूल
मेटकर अपनी बनावट
तोड़ सीमाएं सभी
एक दिन फिर से मिलेंगे धार में
समवेत जीवन के अपरिमित ज्वार में !

# कार्टूनों का जुलूस

हां-हां, यह सच है,
ठीक ही सुना है यह तुमने
कि कल रात
दूर, सात सिन्धु पार
अणु का विस्फोट हुआ,
उड़ गई उद्जन की धज्जियां
जिसके धड़ाके की धमक से
क्षीणकाय स्वरधारी नारों का दम टूटा
एक लघु हिचकी ले त्यागे उन्होंने प्राण;

यह लो,
वह देखो :
नारों की अर्थियां उठाए आ रहा है
वह जुलूस कार्टूनों का—
बासी अखबारों में लपेटे हुए शव को
फूटे गुब्बारों-से जिनके सिर
झूलते हैं कन्धों पर;

कैमरे के लैंस-सी हैं आंखें बुझी हुई,
बिगड़े, कमबख्त लाउडस्पीकर-से
जिनके मुख निश्शब्द खुले हैं !
रिपटों से ठुकी हुई निश्चल उंगलियां हैं,
दांतेदार पहिए-सा दिल घूमे जाता है,
वार्निश से पुते हुए चेहरों पर
'रेडियो-ऐक्टिव' धूल की पर्तें जमी बैठी हैं !
टाइपराइटर की 'की' की तरह
सबके पैर बारी-बारी से उठते हैं,
और सब एक ही जगह पर पड़ते हैं,

और फिर लौटकर
तुरन्त बिखर जाते हैं !

सोचो मत : व्यर्थ है ।
देखो मत : यह है जुलूस कार्टूनों का
नारों की अर्थियां उठाए जा रहा है जो श्मशान को !

हट जाओ,
रास्ता दो इनको,
कहीं इस सामूहिक मृत्यु की अशुभ छाया
आंखों में बसे हुए
अ-जनमे तुम्हारे इन सपनों पर न पड़ जाय !

## परिणति

उस दिन भी ऐसी ही रात थी,
ऐसी ही चांदनी थी,
उस दिन भी ऐसे ही अकस्मात्
हम-तुम मिल गए थे,
उस दिन भी इसी पार्क की इसी बेंच पर बैठकर
हमने घंटों बातें की थीं
घर की, बाहर की, दुनिया-भर की,
पर एक बात हम ओठों पर न ला पाये थे
जिसे हम दोनों
मन ही मन
माला की तरह फेरते रहे थे !

आज भी वैसी ही रात है,
वैसी ही चांदनी है,

आज भी वैसे ही अकस्मात्
हम-तुम मिल गए हैं,
आज भी उसी पार्क की उसी बेंच पर बैठकर
हमने घंटों बातें की हैं
घर की, बाहर की, दुनिया-भर की,
पर एक बात हम ओठों पर नहीं ला पाये हैं
जिसे हम दोनों
मन ही मन
माला की तरह फेरते रहे हैं !

वही रात है,
वही चांदनी है,
वही वंचना की भूलभुलैयां है,
पर इस एक समानता को छोड़कर
देखो तो,
आज हम कितने असमान हो गए हैं !

पर नहीं,
अभी एक समानता और भी है :
आज हम दोनों जाने की जल्दी में हैं;
तुम्हारा बच्चा भूखा होगा,
मेरी सिगरेटें खत्म हो चुकी हैं !

## संस्पर्श

नगर के सीमान्त में
दूर तक फैली सड़क के किनारे खड़े
पुराने परित्यक्त बूढ़े चर्च की लम्बी छाया
सूरज डूबते समय
जिस पेड़ के चरण छूने लगती है

उसो के नीचे
एक दिन
आज से बरसों पहले
हम-तुम थोड़ी देर को रुके थे !
मैं चर्च की ओर उड़ती निगाहें डाल रहा था,
और तुम पेड़ की एक टहनी
अपने मुलायम हाथों से सहलाने लग गई थीं !

आज वरसों बाद
अचानक
जब मैं उधर से निकला
तो जैसे कोई पवित्र मोह
मुझे उस पेड़ तक खींचकर ले गया
जिसके चरणों में बूढ़े चर्च की लम्बी छाया
आज भी वैसी ही ठहरी हुई थी।
जिस टहनी को तुम्हारे मुलायम हाथों ने सहलाया था
उसकी एक-एक पत्ती
जनम-मरण के न जाने कितने फेरे लगा चुकी है
फिर भी जब मैंने मुग्ध प्रेरणा से उसे छुआ
तो मानो तुम्हारा हाथ ही छू गया हो !
उन पत्तियों ने अपने संस्पर्श से मानो मुझसे कहा :
'लो, यह अपनी थाती संभालो,
यह तुम्हारा प्राप्य है जिसे हम एक युग से संजोए हैं
अब हमें मुक्त करो !'

मेरी बात का तुम्हें यकीन न हो
तो एक दिन अपनी कार
एक क्षण को उस पेड़ के पास रोककर
उस टहनी तक अपना हाथ ले जाकर खुद देख लेना,
पत्तियां तुमसे कह देंगी
कि मैं आया था !

## टूटे सपनों का सपना

रात मैंने एक स्वप्न देखा।
मैंने देखा
कि मेनका अस्पताल में नर्स हो गई है,
और विश्वामित्र ट्यूशन कर रहे हैं,
उर्वशी ने डांस-स्कूल खोल दिया है,
नारद गिटार सीख रहे हैं,
गणेश टाफी खा रहे हैं,
और वृहस्पति अंग्रेज़ी से अनुवाद कर रहे हैं !

## सबसे छोटी कविता

तुम अमीर थीं
इसीलिए हमारी शादी न हो सकी,
पर, मान लो, तुम गरीब होतीं—
तो भी क्या फर्क पड़ता !
क्योंकि तब
मैं अमीर होता ! !

## प्रतीति

अभी तक काव्य ही रचता रहा हूं
जगत के कर्म से बचता रहा हूं
बड़ा ही मूर्ख हूं, पछता रहा हूं !

# उपवन से बातचीत

आज सबेरे
जब वसन्त आया उपवन में चुपके-चुपके
कानों ही कानों में मैंने उससे पूछा :
'मित्र ! पा गये तुम तो अपना यौवन का उल्लास दुबारा।
गमक उठे फिर प्राण तुम्हारे
फूलों-सा मन फिर मुसकाया,
पर साथी !
क्या दोगे मुझको ?
मेरा यौवन मुझे दुबारा मिल न सकेगा ?'

सरसों की उंगलियां हिलाकर संकेतों में वह यों बोला :
'मेरे भाई !
व्यर्थ प्रकृति के नियमों की यों दो न दुहाई,
होड़ न बांधो तुम यों मुझसे !
जब मेरे जीवन का पहला पहर झुलसता था लपटों में
तुम बैठे थे बन्द उशीर-पटों से घिरकर;
मैं जब वर्षा की बाढ़ों में डूब-डूबकर उतराया था
तुम हंसते थे वाटर-प्रूफ कवच को ओढ़े;
और शीत के पाले में जब गलकर मेरी देह जम गयी
तब बिजली के हीटर से
तुम सेंक रहे थे अपना तन-मन !
जिसने झेला नहीं, खेल क्या उसने खेला ?
जो कष्टों से भाग, दूर हो गया सहज जीवन के क्रम से
उसको दे क्या दान प्रकृति की यह गतिमयता
यह नव-वेला ?
पीड़ा के माथे पर ही आनन्द तिलक चढ़ता आया है
मुझे देखकर आज तुम्हारा मन यदि सचमुच ललचाया है
तो कृत्रिम दीवारें तोड़ो

बाहर आओ
खुलो, तपो, भीगो, गल जाओ
आंधी-तूफानों को सिर पर लेना सीखो
जीवन का हर दर्द सहेजो
स्वीकारो हर चोट समय की
जितनी भी हलचल मचनी हो, मच जाने दो
रस-विष दोनों को गहरे में पच जाने दो
तभी तुम्हें भी धरती का आशीष मिलेगा,
तभी तुम्हारे प्राणों में भी यह पलाश का फूल खिलेगा !

## आने वालों से एक सवाल

तुम, जो आज से पूरे सौ वर्ष बाद
मेरी कविताएं पढ़ोगे
तुम, मेरी धरती की नयी पौध के फूल
तुम, जिनके लिए मेरा तन-मन खाद बनेगा
तुम, जब मेरी इन रचनाओं को पढ़ोगे
तो तुम्हें कैसा लगेगा :
इसका मेरे मन में बड़ा कौतूहल है !

बचपन में तुम्हें हिटलर और गांधी की कहानियां सुनाई जाएंगी
उस एक व्यक्ति की
जिसने अपने देशवासियों को मोह की नींद सुलाकर
सारे संसार में आग लगा दी,
और जब लपटें उसके पास पहुंचीं
तो जिसने डरकर आत्माहत्या कर ली
ताकि उनका मोह न टूटे ;
और फिर उस व्यक्ति की

जिसने अपने देशवासियों को सोते से जगाकर
सारे संसार को शान्ति का रास्ता बताया,
और जब संसार उसके चरणों पर झुक रहा था
तब जिसके देशवासी ने ही उसके प्राण ले लिये
कि कहीं सत्य की प्रतिष्ठा न हो जाय !

तुम्हें स्कूलों में पढ़ाया जायगा
कि सौ वर्ष पहले
इन्सानी ताकतों के दो बड़े राज्य थे
जो दोनों शान्ति चाहते थे
और इसीलिए दोनों दिन-रात युद्ध की तैयारी में लगे रहते थे,
जो दोनों संसार को सुखी देखना चाहते थे
इसीलिए सारे संसार पर कब्जा करने की सोचते थे;
और यह भी पढ़ाया जायगा
कि एक राज्य और था
जो संसार-भर में शान्ति का मंत्र फूंकता रहा
पर जिसे अपने ही घर में
भाई-भाई के बीच दीवार खड़ी करनी पड़ी,
जो हर पराधीन देश की मुक्ति में लगा रहता था
पर जिसके अपने ही अंग पराये बन्धन में जकड़े रहे !

तुम्हें विश्वविद्यालयों में बताया जायगा
कि इन्सान का डर दूर करने के लिए
सौ साल पहले वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे आविष्कार किये
जिनसे इन्सान का डर और भी बढ़ गया,
और यह भी
कि उसने चांद-सितारों में भी पहुंचने के सपने देखे
जबकि उसके सारे सपने चकनाचूर हो गए थे !

और तभी किसी दिन
किसी प्राचीन काव्य-संग्रह में
तुम मेरी कविताएं पढ़ोगे;

और उन्हें पढ़कर तुम्हें कैसा लगेगा—
यह जानने का मेरे मन में बड़ा कौतूहल है !

तुम जो आज से सौ साल बाद मेरी कविताएं पढ़ोगे
तुम क्या यह न जान सकोगे
कि सौ साल पहले
जिन्होंने तन्मयता से विभोर होकर
आत्मा के मुक्त-आरोहण के
या समवेत जीवन की जय के गीत गाए
वे आंखें बन्द किए सपनों में डूबे थे;
और मैं
जिसका स्वर सदा दर्द से गीला रहा,
जिसके भर्राए गले से कुछ चीखें ही निकल सकीं,
मैं सारा बल लगाकर
आंखें खोले
यथार्थ को देख रहा था !

## देवता सावधान !

जब तुम्हें मैंने पहले-पहल देखा
तो भक्ति से झुककर मैंने तुम्हारे चरणों पर
अपना भविष्य चढ़ा दिया ।
तुमने मुझे आशीर्वाद दिया
और मेरा भविष्य रख लिया ।

फिर तुम्हें मैंने अपनी प्रतिभा दी ।
तुमने मुझे वरदान दिया
और मेरी प्रतिभा ले ली ।

फिर तुम्हें मैंने अपनी शक्ति सौंपी।
तुम चुप रहे
पर मेरी शक्ति तुमने स्वीकार की।

सिद्धि की प्रतीक्षा में
जब आंखें मूंदे मुझे एक युग बीत गया
तब मैंने तुम्हें फिर देखा :
तुम अचल थे, मूर्तिवत्,
नहीं,
तुम मूर्ति ही थे !

फिर मुझे आशीष और वरदान किसने दिये ?

और तब मैंने पहली बार
तुम्हारे पुजारियों पर नज़र डाली
जो तुम्हारी ओट में
मेरा भविष्य, मेरी प्रतिभा, मेरी शक्ति
भोग रहे थे !

मैं तो अब मुक्त हूं
क्योंकि अपनी स्थिति का ज्ञान ही मुक्ति है,
पर देवता !
यदि तुम निरे पत्थर ही नहीं हो
तो अपने इन पुजारियों से अपनी रक्षा करो !

## दर्द के फूल

बरसों पहले
जब हमारी-तुम्हारी आखिरी भेंट हुई थी
तब अगर जानता

कि यह भेंट आखिरी है
तो मैं सच कहता हूं :
मैं ये फूल न लेता !

उस दिन बिन-मांगे ही
तुमने मुझे जो बीज दिए
उन्हें मैंने अपने सपनों में बोया
आंसुओं से सींचा
आशाओं से पाला
हर क्षण उनकी रखवाली की
और आज
वे पूरे वयस्क वृक्ष बनकर
इस भरी बरसात में फूल उठे हैं
गंध लुटाने को व्याकुल हैं।
और अपनी नन्ही टहनियों की बांहें हिलाकर
तुमको टेरते हैं :
'आओ,
अपने इन फूलों को ले जाओ
ये तुम्हारे ही फूल हैं
तुम्हारे ही दिए
तुम्हारे ही लिए
इन्हें चुनकर अपनी वेणी में गूंथ लो,
इन्हें कोमल सूत्रों में पिरोकर
अपना सिंगार करो !'

पर वह भेंट आखिरी थी
यह आज ही जान पाया हूं
आज ही
जब ये वृक्ष फूले हैं
और जब इनकी गंध विफल-विकल
इधर-उधर टक्कर मार रही है !

आज ही मैं जान पाया हूं
कि ये फूल तुमने मुझे इसीलिए दिए थे
कि हमारी वह भेंट आखिरी थी

और उस दिन
तुम मुझे कुछ ऐसा देना चाहती थीं
जो मिटे नहीं,
जो हमारी उस भेंट को
तुम्हारी उस अयाचित कृपा को
अमर कर दे !

दर्द के ये फूल !
तुम्हारा उपहार हैं ये
आखिरी उपहार
जिन्हें मैंने आंसुओं से सींचा है
आशाओं से पाला है
सपनों में बसाया है
सिर-माथे स्वीकारा है !

पर एक बात बताओ :
क्या दर्द के उन बीजों के सिवा
उस दिन
तुम्हारे पास ऐसा कुछ नहीं था
जो तुम मुझे दे सकतीं
और जो अमर होता ?

# अप्रत्याशित

कल रात जब अचानक
तुम मुझे सपने में मिलीं
तो मैंने तुमसे एक प्रश्न किया :

वह प्रश्न
जो मेरे मन में बरसों से घुमड़ता रहा है
जो मेरी बेतरतीब ज़िंदगी के हर कदम में बोलता रहा है
जो मेरी बिछुड़ी हुई दृष्टि और खोयी हुई भावना से
फूटता रहा है
पर जो आज तक किसी ने नहीं सुना
क्योंकि उसका उत्तर एक तुम्हीं दे सकती थीं !

मैंने तुमसे पूछा :
'क्या अब तुम्हें मेरी याद नहीं आती ?'
अपनी कल्पना में
मैंने तुमसे यह प्रश्न न जाने कितनी बार पूछा है
और सोचा है :
इसे सुनकर तुम कैसी लज्जा से लाल हो उठोगी,
अपराधिनी की भांति तुम्हारी नज़रें झुक जाएंगी,
मुंह से बोल न फूटेगा
और तुम एक युग पहले के अभ्यास की भांति
आज भी कोई बहाना करके गायब हो जाओगी
मेरे प्रश्न को अनन्त दर्द का रूप देकर
मेरे दर्द को अनन्त प्रश्न में ढालकर !

पर ऐसा कुछ नहीं हुआ !
मेरी सारी प्रत्याशाओं पर पानी फेरती हुई
अनासक्त दृष्टि की पवित्र अविचलता से मुझे बांधकर

मुस्कराती हुई तुम बोलीं :
'हां, कभी-कभी आती है,
कभी-कभी
जब मैं अपने अवकाश के समय
उस एक क्षण का ध्यान करती हूं
जब मुझे आलोक की पहली किरण मिली थी
जब मैंने अनुराग की अनायास प्रेरणा से
अपनी पहली पंखुरी खोली थी
और कली से बदलकर फूल का रूप पाया था !
उस क्षण के साथ तुम्हारा चित्र
ऐसे अटूट रूप से जुड़ा हुआ है
कि मैं सुधि-मुग्ध हो जाती हूं
और गहरे कृतज्ञ भाव से
फिर-फिर तुम्हारे प्रति समर्पित होती रहती हूं
किरण के प्रति मुग्ध कमलिनी-सी !
मेरे विकास के निमित्त थे तुम
मेरे जीवन के वह अनमोल क्षण थे तुम
जो बस एक ही बार आता है।
तुम्हारा दान मैं कैसे भूल सकती हूं !
आज उस दिन को एक युग बीत चला,
तब से अब तक
मैंने मुस्कराहट की अनन्त निधि लुटाई है
भ्रमर के कोमल स्पर्श से
अधीर चुम्बन से
मेरा रोम-रोम कंटकित होता रहा है
पर अब भी उस प्रथम किरण-वेला को
मैं नहीं भूली हूं
जिसके कारण तुम थे !'

सुनकर मैं दंग रह गया
स्तब्ध और हत-बुद्धि;

मेरा मन एक नये बोझ से चूर-चूर हो उठा
क्योंकि तुमने
अपने अनजाने ही
मेरा युगव्यापी दर्द
झूठा कर दिया था !

## तुम : ओ मेरे पूर्वजो !

दीप्त थीं शिखाएं जो
धूमहीन निष्कलंक तेज की सवारियां
ताम्रारुण लपटें जो पहुंचती थीं व्योम तक
तारों के माथे भी पसीजते थे जिनकी भभक से
तप्तालोक जिनका
हमारे इस अंधे युग-पथ की आशा था—
कहां हैं वे ?
जवाब दो !
तुम : ओ ज्योति-वाहियो !
तुम : जिन्हें सौंपी थी इतिहास ने
वह अग्निमयी शक्ति की मंगल-निधि
तुम : ओ मेरे पूर्वजो !
जवाब दो !
कहां हैं आज स्वर्णिम शिखाएं वे ?
क्या उन्हें चुराके ले गया यह उलूक-दल
जब तुम थे स्वप्नाविष्ट ?
अथवा वे तुमने स्वयं ही बेच डालीं
क्योंकि अब उनका बोझ सहने की ताकत
तुम्हारे इन बूढ़े कांपते हाथों में नहीं बची ?
बोलो तुम ?

बोलो ज्योति-वाहियो अतीत के,
आज के किराये के मशालची !
बोलो तुम
इसका जवाब दो !

इस कलंक-गाथा के कुछ पहले
मैंने प्राप्त की थी एक लघु चिनगारी
तुमसे ओ पूर्वजो !
यज्ञ की अरणि-सी
पैतृक अधिकार-सी !
मैंने इसे धारा है जतन से
बैठक में टंगी
किसी फूहड़ तसवीर के आडम्बर में नहीं,
मन की अनबूझ प्रेरणाओं में !
मैंने इसे पाला है कर्म-सा,
माथे पर झेलकर वर्षा और झंझा सब
प्राणों की कच्ची कन्दील में
प्रति-पल फूंक-फूंककर
इसको सुलगाया है
ताकि यह वंशधर तुम्हारी ही अग्नि का
उस दिन बने तुम्हारे पथ की सशक्त ज्योति
जिस दिन तुम्हारे बूढ़े हाथों से छिन जाए
मशाल यह किराए की !

बोलो, क्या ऐसा दिन कभी भी न आएगा ?

## परम्परा : एक नयी उपलब्धि

पहले बिके धर्म पर
फिर बिके भक्ति पर
रूप पर मध्य-युग में बिके—
बिकना तो अपनी परम्परा है !

आज इस संकट की बाढ़ में
जब कहीं धर्म नहीं
भक्ति नहीं
रूप नहीं,
हारकर हम बिके चांदी के टुकड़ों पर;
हम प्रसन्न
हम कृतकृत्य हैं
हमने अपनी परम्परा
अक्षुण्ण रक्खी है !

## मूर्ति तो हटी, परन्तु...

तम में भटकती हुई अनगिनती आंखों को
जिसने नयी दृष्टि दी
खोल दिये सम्मुख नये क्षितिज
नूतन आलोक से मण्डित की सारी भूमि
जन-मन के मुक्ति-दूत
उस देवता के प्रति
श्रद्धा से प्रेरित हो
समवेत जन ने
प्रतिमा प्रतिष्ठित की अपने सम्मुख विराट् !

अपने कृतज्ञ हृदयों में बसी
ऊर्ध्वबाहु कल्पना
पत्थर पर आंकी अति यत्न से !
मूर्ति वह अद्वितीय, महाकाय
शीश पर जिसके हाथ धरते थे मेघराज
चरणों में जिसके जन झुकते थे भक्ति से
अंजलि के फूल-भार के समान
अधरों पर जिसके थी मंत्र-मयी मुक्कान
उल्लसित करती थी लोक-प्राण !

यों ही दिन बीत चले,
और वह मूर्ति दिन पर दिन, स्वयमेव
मानो और बड़ी, और बड़ी होती चली गई !
जड़ प्रतिमा में बन्द यह रहस्य, यह जादू
कितने समझ सके, कितने न समझे—यह कहना कठिन है,
क्योंकि उसे पूजा सब जन ने
भूलकर एक छोटा सत्य यह :
पत्थर न घटता है, न बढ़ता है रंचमात्र,
मूर्ति बड़ी होती जा रही थी
क्योंकि वे स्वयं छोटे होते जाते थे;
भूलकर एक बड़ा सत्य यह :
मूर्ति की विराटता ने ढंक लिये वे क्षितिज
देवता ने एक-एक करके जो खोले थे !

आखिर में एक दिन ऐसा भी आ पहुंचा
मूर्ति जब बन चुकी थी आसमान
और जन बन चुके थे चूहों-से, मेंढक-से
छोटे, ओछे, नगण्य !

क्षितिजों के सूर्य की जगह थी वह मुस्कान
जिसमें नहीं था कोई अपना आलोक-स्रोत
होकर वे तम में बन्द फिर छटपटाने लगे !
तभी कुछ साहसी जनों ने बढ़
अपनी लघुता का ज्ञान दिया हर व्यक्ति को
और फिर
शून्य बन जाने के भय से अनुप्राणित हो
समवेत जन ने
अपने ही हाथों से गढ़ी हुई
देवता की मूर्ति वह तोड़ डाली—
छेनी से, टांकी से, हंसिया से, हथौड़ी से,
जिसको जो मिला उसी शस्त्र से,
गढ़ते समय भी ऐसा उत्साह कब था ?

देखा तब सबने आश्चर्य से :
प्रतिमा की ओट में जो रमी रहीं एक युग
उनकी वे दृष्टियां अब असमर्थ थीं
कि सह सकें सहज प्रकाश आसमान का !
और फिर सबने यह देखा असमंजस से :
मूर्ति तो हटी, परन्तु सामने डटा था प्रश्न-चिह्न यह :
मूंद लें वे आंखें या कि प्रतिमा गढ़ें नयी ?
हर अन्धी श्रद्धा की परिणति है यह खण्डन !
हर खंडित मूर्ति का प्रसाद है यह प्रश्न-चिह्न !!

## पी लो यह विष भी !

हाथ क्यों कांप उठे ?
डरो मत,
सोचो मत,

पी लो यह विष भी—
यह भी उसी मंथन से उपजा है
जिससे मिली तुम्हें पहले की रत्नराशि,
रुकना नहीं है तुम्हें अब अधबीच में !

अमृत ?
हां, खोज थी तुम्हें तो उसी एक की—
किन्तु गाथा कहती है कि वह तो परिणति है ?
उसके उदय के पूर्व
प्रतिश्रुति भी कौन दे ?
अमृत का आश्वासन पाकर भविष्य से
विष पीने में नहीं कोई बहादुरी—
त्यागो यह सौदे की भावना
जूझो वर्तमान से—
अन्यथा यह हिचक ही विष बन जाएगी !

विष से अलग, अनपेक्ष नहीं अमृत का अस्तित्व—
मृत्यु या अमृत : ये ही दो परिणतियां हैं;
विष देख डर जाना—मृत्यु है !
विष पीके पचा लेना—अमृत की यही परिभाषा है ! !

## अंधकार की हदें खींच दो

भावों की किरणें समेटकर
डूबा अभी-अभी पश्चिम में
सूरज का आदर्श-पिण्ड
लो,

कुण्ठाओं की रात घिर गई !
कटा-फटा फीका-सा चन्दा
आ बैठा है आसमान की इस सूनी, लम्बी दीर्घा में
अलग, तटस्थ पर्यवेक्षक-सा ! !

जितने भी पथ थे
सबकी परिणति होती है अंधियारे में !
प्राणों के पंथी
सहमे, सिमटे बैठे हैं गलियारे में ! !
घर-बाहर का यह सूनापन, यह अंधियारा
तुम्हें न डस ले
तुम्हें न ग्रस ले
उठो,
सोच क्या गई ज्योति का !
तुम आस्था का दीप जलाओ,
अंधकार की हदें खींच दो,
लौ का यह छोटा-सा घेरा
नयी किरण का बने पांवड़ा !

## अ-साधारण की चाह : डायरी का एक पन्ना

साधारण नगर के
एक साधारण घर में
मेरा जनम हुआ :
बचपन भी बीता अति साधारण
साधारण खान-पान
साधारण वस्त्र-वास

और
साधारणता के इस घोर चक्र में
मेरा मन खोजने लगा था असामान्य कुछ !

तब मैं एकाग्र-मन
जुट गया ग्रन्थों में
मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला।
और असाधारण का पहला स्वाद पा सका !

किन्तु कुछ दिनों बाद
मैंने देखा यह भी अति साधारण बात थी;
मुझ-से अनेक परीक्षार्थी थे सर्वत्र
जो कि इम्तहानों में कमाल दिखलाते थे !
तब मैंने पहली बार क्षुद्र इस जीवन में
प्यार किया
अपने से चौगुनी अमीर एक लड़की से,
और जब उसने मुझे दर्द दिया
तब उस विलक्षण दान की गरिमा से
मेरा मन फूल उठा,
काफी दिन इस असाधारण प्रकाश से घिरा हुआ
मैं धरती से कुछ उठा-सा, अलग-सा
सपने सजाता रहा,
मन को भरमाता रहा !

पर वह भी मिट गया;
वास्तव की एक ही खरोंच से
उस मेरे स्वप्नशील प्यार का दम निकला,
फ्यूज़ हो गया वह प्रकाश-पुंज
साधारण झटके से;
मैंने तब अनजाने
असामान्य बनने की चाह में
कविता अपनाई थी !

अब उस बात को भी पूरा युग बीत चुका;
मेरी कविता भी बन साधारण का प्रकाश
मेरी नहीं बची !
साधारण जीवन
साधारण काम-काज
साधारण सुख और साधारण दुख के क्रूर पाश में
आज भी मैं पहले की भांति ही बेचैन हूं
एक अ-साधारण की चाह से विकल हूं,
बार-बार सोचता हूं
यदि सदा साधारण रहना ही मेरी नियति है
तो फिर
कम से कम इतना हो मेरा भाग्य :
मेरे इस जीवन का अंत असामान्य हो !

## इतिहास का कलंक

असमय बादल-सा बेकार उमड़ा मैं
बेकार गरजा और बेकार बरसा हूं
ओ धरती ! ओ माता !
तेरे इन हरे-भरे खेतों पर
मैंने जो गोले-से ओले बरसाये हैं दोपहर
उनके लिए तू आज निश्छल हृदय से
मुझे क्षमा कर दे !
क्योंकि मैं विवश था
प्राणों में मेरे वाष्प-जल का जो भार था
मेरा नहीं, वह तो किसी और का ही दान था।
मैं तो बस उसे मात्र ढोता ही रहा हूं,

अपने अकाल जन्म पर इस जीवन में
सच मानो, मां ! मैं तो रोता ही रहा हूं !
मैंने कब चाहा : तुझे त्रास दूं
मेरी कामना थी कि तुझको उल्लास दूं;
मुझे क्या पता था कि यह असमय का रस
पत्थर बनेगा या कि विष बन जायगा ?

आदर्श दानी की परम्परा का पूत मैं
आज उल्टा तुझसे भीख मांगता हूं दया की
क्या मेरी कामना की भांति ही
मेरी यह याचना भी बेकार जाएगी ?

क्षमा कर, माता, मुझे क्षमा कर
किसी अज्ञात नियंता के पाश में बंधा
मदारी की बीन-सा
अहेरी के तीर-सा
अपने अपकर्म का भागी नहीं हूं मैं !

क्षमा कर, क्षमा कर
मेरे लिए क्या यही शान्ति कुछ कम है
कि मेघों के लम्बे इतिहास का
मैं कलंक हो गया ?

## तुम नहीं···

सतरंगे स्वप्न लिये आती हैं घटायें
इनसे यह रूखा मन कैसे मिलायें
पर, कैसे हटायें ?

तुम नहीं ··

रस के इस मौसम में
पत्थर बन जाने का दर्द यह
किससे बंटायें ?

## बादल, गरज ले !

बादल, गरज ले !
बिजली, विभूति से तू अपने अंग सज ले ! !

बज ले
ओ मेरे रोम-तार !
तू इस वर्षाघात से बज ले !

क्या पता, उतरती इस धार में ही घुलकर
मेरा मन मंज ले !

## उपलब्धि

प्यासा तट जहां था, वहीं रहा—
धारा ही आयी !

प्लावन की बेला में
आज नयी उपलब्धि पायी :

निश्चल समर्पण ही सिद्धि है;
रस की खोज में भटक
मैंने उम्र यों ही गंवाई !

## रस में ये डूबे पल

नदिया में बाढ़ आयी
ढूह सब ढह गए
हरियाये किनारे
सूखे पत्ते सब बह गये
रस में ये डूबे पल
कानों में कह गये :

'तपने से डरते थे ?
इसीलिए, देखो :
तुम आज सूखे रह गये !'

## दर्द के तिनके

मिट गये थे चिह्न तक जिनके
वही तिनके
फिर अचानक लहलहाने लग गये !

और

रस के इन पलों में
वे मिटाये दर्द भी, लो, सिर उठाने लग गये ! !

## दूर की घटाओ !

दूर की घटाओ !
रंगों की हाट यह अपनी हटाओ ! !

मुझे नहीं भाता है
निलज प्रदर्शन यह और अकुलाता है !

मुझको तो लाओ
बस,
हलकी फुहार एक
जिससे इन प्राणों को शीतल परस मिले
रंग नहीं, रस मिले !

## सीपी की सीख

नाचने लगे हैं मोर
गहराने लगी है आसमान की सजीली कोर

अब वर्षा आयेगी
स्वाति की एक बूंद मोती बन जायेगी
छोटी-सी सीपी यह हमको सिखायेगी :
रस का सही ग्रहण कितनी बड़ी बात है !

मोरों का रोर यह, मेंढकों का यह शोर
केवल उत्पात है !

## काग़ज़ की नाव

काग़ज़ की नाव जो हमने बनाई थी
धारा में बहाई थी—
वह अब डूबने लगी !

आओ,
इन बच्चों की भांति ही
हम भी खुश हो-होकर बजायें क्यों न तालियां ?
कोई यह न कह बैठे :
हम नहीं जानते थे खेल की प्रणालियां !

## कर्कश का आवरण

मेंढक की टर्राहट कर्कश हो कितनी ही
उसमें छिपी है
मधु-कोमल प्यार की पुकार
(साक्षी है जीव-शास्त्र ! )

ध्वनियों की तह तक पहुंचने का दंभ तुम्हें !
ओ रे गर्वीले !
साहस हो तो भेदो कर्कश का आवरण !

## तुक की व्यर्थता

दर्द दिया तुमने बिन मांगे, अब क्या मांगूं और ?
मन के मीत ! गीत की लय, लो, टूट गई इस ठौर
गान अधूरा रहे भटकता परिणति को बेचैन
केवल तुक लेकर क्या होगा : गौर, बौर, लाहौर ?

# कौंध तो अभिव्यक्ति है।

दर्द के घुटे-घिरे बादलों में
अचानक
बिजली की तड़प कौंध गई !
एक क्षण को
सारा आसमान प्रकाश से भर गया
तीखे, उद्धत, क्षणिक प्रकाश से—
तुम्हारे प्यार की तरह
हां, ठीक तुम्हारे प्यार की तरह !

और दूसरे ही क्षण
आसमान बुझ गया,
बादल और गहरा गये !
मन ने कहा, कहूं :
कि जो प्रकाश लुप्त हो गया है
वह मिटा नहीं है !
बादलों की ओट में
वह अब भी सुरक्षित है,
और कौंध ?
कौंध तो अभिव्यक्ति है
मात्र अभिव्यक्ति—
क्षण ही उसका स्वभाव है !

पर फिर नहीं कहा !

सोचा :
कि कहीं यह तुम्हें आडम्बर न लगे,
बनावटी आवेग—
किसी ऐक्टर की नाटकीय व्यंजना !

पर सुनो,
मेरे इस मौन से तुम यह न समझना
कि मेरा विश्वास कच्चा है !

## गीत नहीं मिले

मिट्टी का परस कभी जाना नहीं
मिट्टी का सम्मोहन !
माना नहीं !
अपने हाथों उगाया कभी एक दाना नहीं
इसीलिए—
आया तुझे गाना नहीं !

## एक सूक्ति

रेत का महल
कोरी कल्पना है।

इसीलिए,
कोरी कल्पना की कला
रेत का महल है !

## समाधि-लेख

रस तो अनन्त था, अंजुरी भर ही पिया
जी में वसन्त था, एक फूल ही दिया
मिटने के दिन आज मुझको यह सोच है :
कैसे बड़े युग में कैसा छोटा जीवन जिया !

## स्वर ही किरण है

गहरे अंधियारे को चीरती
आयी कीर की पुकार
पहले कुछ मद्धिम,
फिर दुर्निवार !

तम में अतल तक डूबी हुई डालों पर
सोये अनगिनती खग
उस उद्दाम स्वर से ही अनुप्रेरित हो
डोल उठे !
उत्तर में जागकर बोल उठे ! !
गूंज उठा आसमान गीतों के प्रभात में ।

तू भी ओ मेरे अप्रस्तुत मन !
टेर दे !
घुटते तिमिर को स्वरों से बिखेर दे ! !
अभी, पल झपते ही
मौन अंधियारे से
तेरे अनगिनती अपरिचित सह-भोगी
प्रतिध्वनि उठायेंगे !
गायेंगे ! !

## यों हमें तुलसी मिला

माधवी की देह का शृंगार सारा सूखकर मुरझा गया जब
इन्द्रवज्रा, शिखरिणी के हाथ पीले पड़ गए, फिर स्याह होकर
खो गए

जब साम-स्वर का रंग कच्चा घड़ी भर को क्षितिज पर चमका,
बुझा
जब निराशा की घड़ी श्यामा उतरकर बस गई थी लोचनों में
भूमि के—
चारणों के कण्ठ के लघु दीप पल-भर टिमटिमाकर मिट गए
और गहरी हो गई थी कालिमा।
जब सुनाई पड़ रहे थे सभी दिशि में
शृंखला-च्युत आर्त ग्रामों के विकल स्वर लड़खड़ाते,
किन्तु जिनकी अनसुनी कर विरत साधक के मुंदे दृग हेरते थे
शून्य को—
तभी जागा एक जन
अपनी व्यथा की चोट से बेचैन जो घर-घर गया
उसके खुले दृग ने निहारा भूमि को, संसार को
और फिर अपनी विकलता में समोता सर्वव्यापी वेदना
जो गा उठा स्वर साधकर करुणा भरे रस मेघ-सा
गीत जिसके सूर्य की निष्कम्प आभा-से उठे
घोर तम को काटकर जो रच गए पीड़ित धरा के प्राण में।

यों हमें तुलसी मिला
जिसके अनोखे नैन में हमको मिली संजीवनी
जिसके हृदय की वेदना प्रत्येक जन की वेदना बनकर खिली
विशद शतदल की तरह
यज्ञ के शुभ-धूम-सा जिसका महासंगीत
विपिनवासी, दस्यु-संहारी, तपस्वी राम को
बुला लाया झोंपड़ी की ओर।
वह महाकवि अडिग योगी की तरह
राम के ही चरण-चिह्नों पर चला,
हर डगर में सत्य का जयकेतु फहराता हुआ,
हर नगर में, गांव में, घर-घर जगाता

नये जीवन के नये आदर्श
देता कर्म का आह्वान
गाता गान।

है कौन-सी वह दिशा
कोई है भला क्या नगर ऐसा, गांव ऐसा
जो न अब तक गूंजता हो उस महाकवि की अमर ध्वनि से भरा
कैलाश से कन्याकुमारी तक भला है राह कोई
जहां अब भी सुन न पड़ते हों चरण उज्ज्वल व्रती उन वन-पथी
सहयोगियों के।
ओ महाकवि !
आज तेरे निकट श्रद्धा से विनत हूं मैं
कि तेरे कंठ से वह राम-सीता की अमूल्या वीर गाथा
वही नाना छंद, नाना रूप धरकर
और जन-जन के हृदय पर छा गयी हरियालियों-सी।
कितनी गहन होगी अरे ! वह वेदना
कितनी विशद वह दृष्टि
जिसमें झांक पाया पूर्ण जीवन सर्वजन का
योग से जिसके अमृत-सौंदर्य के, कल्याण के निर्झर झरे।
रूप के, गुण के असंख्यों फूल प्राणों में खिले।

भक्ति-युग के महा-चारण !
देश और समाज के समवेत जय स्वर ! !
राम के गायक !
सखा आकाशभेदी, अग्निध्वज हनुमान के !
मैं अबल, असहाय, शोषण के दलित युग का
निराशा से भरा, शंका-घिरा कवि
नियति के उपहासपूरित व्यंग्य-सा यह जन्म मेरा
हुआ है तेरी जयन्ती पर।

और जिस दिन खुली मेरी आंख
सीता की प्रसूता
राम-पद-रज-मयी
तेरे गान से आंजी हुई इस भूमि पर
उसी दिन से मैं निबल, निरुपाय, आंखें फाड़कर यह देखता हूं :
किस तरह
दस्युओं ने यहां कांटे हैं बिछाये
और उनको अलख पूंजी की विषैली शृंखला में बांधकर
देश-भर में एक निर्मम पाश यह फैला दिया है।
मैं बराबर आ रहा हूं देखता
किस तरह
आज मेरे जन्म के युग में
गेहूं-धान खेतों के रसीले वक्ष पर
स्वार्थ की मेखें गड़ी हैं
और जिनके बल धरा की देह पर
जड़ दी गई हैं रेल की ये पटरियां
रात-दिन जिन पर अरे ! रावण सरीखे
धड़धड़ाते दौड़ते हैं लौह के ये चक्र हिंसा और शोषण-यान के
रौंद डाली गई है यह जानकी की अमृत-दुग्धा भूमि
उसके हृदय का सब रक्त पापी पी गए हैं
और अपनी लौह-प्रभुता के विनाशक गर्व में वे
रक्त के छींटे उड़ाते हैं चतुर्दिक
हो गए हैं उन्हीं से लथपथ हमारे प्राण,
जन-जन के अटकते प्राण।

यही कारण है कि मेरे जन्म-युग में
आज घर-घर में बसी है कैकयी भी, मंथरा भी
आज जीवन-यज्ञ पूरा हो नहीं सकता
क्योंकि तुलसी !

राक्षसों के दूत-से ये धातु के सिक्के
विघ्न बनकर के खड़े हैं।
आज इस विस्तृत विषैले जाल में विंधकर हमारे चरण
हिल-डुल भी नहीं सकते
आज सीता को महल के भोग भाते हैं।
और तेरा वंशधर यह कवि पड़ा है बंधनों में मोह के
गा रहा है कांपते स्वर में निजी कुछ वेदना के छन्द छोटे
दृष्टि उसकी रुक गई है देह में ही
राम-गाथा की अमर-ध्वनि क्षीणतर होती गई है।

किन्तु फिर भी प्राण में जीवन अभी है।
हे महाकवि !
आज तेरा ध्यान कर मैंने नयी यह दृष्टि पायी है
कि इस वैभव-हरण को अब नहीं मानव सहेगा
वह उठेगा
उठेगा क्या, उठ रहा है
आज क्रम-क्रम से करोड़ों राम मिलकर बढ़ रहे हैं
चाप उनकी गूंजती है मेघ-सी
तन गया है आज जनता का धनुष इस विघ्न-तट पर
अभी पल-भर में बनेगा क्षुद्र यह पीड़ा-समुद्र
और फिर कट-कट गिरेंगे शीश शोषण के
जलेगी राक्षसों की स्वर्ण-लंका।[1]

१९४८
वर्षगांठ

---

१. 'प्रतीक' (शरद अंक ९, पृष्ठ २७) में प्रकाशित यह कविता भारतजी के किसी भी अन्य काव्य-संकलन में प्रकाशित नहीं हुई है।